DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

लोकोत्सवता

लोकोत्सव

किसी भी अंचल के लोकोत्सव लोक के वे उत्सव हैं, जो लोक द्वारा लोकहित के लिए आयोजित होते हैं । सामूहिकता उनकी पहली शर्त है । समूचा लोक एक विशेष कर्म से गतिशील होकर अद्‌भुत एकता का बानगी पेश करता है और यह एकता बाहर और भीतर, दोनों तरफ से होती है । असल में, लोकोत्सव लोकमन के मनोविज्ञान का जीता-जागता उदाहरण है । अनेक व्यक्ति एक ही भावना और एक ही लक्ष्य से संप्रेरित हो कर्म करते हैं, जिसे देखकर और महसूस कर अकेला व्यक्ति या उसका मन सहजतः वही करने लगता है । इस तरह व्यक्ति का सामाजिक मन सामूहिक संकेत पा लेता है और स्वतः अनुसरण की क्रिया प्रारंभ हो जाती है । इस रूप में भावात्मक और क्रियात्मक एकरसता का सही साक्ष्य खड़ा हो जाता है । एकता का शारीरिक और मानसिक पक्ष लोकोत्सव के दर्पण में साफ-साफ दिखाई पड़ता है और किसी को यह कहने में कठिनाई नहीं है कि जातीय या राष्ट्रीय एकता का इतिहास लोकोत्सवों के जन्म से ही शुरू हो गया था । मकरसंक्रांति के पर्व पर जब लाखों-करोड़ों एक ही तिथि और समय पर पवित्र जल में डुबकी लगाते हैं, तब ऐसा महसूस होता है कि सारा राष्ट्र ही एक संकेत पर जाग गया हो ।

पूजा-पाठ और जप-तप एकांतिक हैं । वे अकेले व्यक्ति के द्वारा किये जा सकते हैं और उनकी साधना व्यक्तिगत हित के लिए होती है । लोकोत्सव एक व्यक्ति के मनाने से नहीं होता, वरन् उसमें अनेक की भागीदारी जरूरी है । हर व्यक्ति में एकदेव और एक दानव पैठा होता है । सामूहिकता के व्यवहारों में उसका दानव छिप जाता है और देवता बाहर आ जाता है । यदि राष्ट्र के नागारिकों का दानवत्व इन लोकोत्सवों से मार्गीकृत होकर बदल जाता है, तो निश्चित ही उनकी उपयोगिता है । उदाहरण के लिए, होली में कीचड़ डालना, मुखों को बदरंग करना और गधे पर सवारी करते हुए गलियों में घूमना, गाली-गलौज करना आदि से पशुप्रवृत्ति तृप्त हो जाती है और व्यक्ति में पारस्परिक प्रेम की सद्वृत्ति जाग जाती है ।

लोकोत्सव केवल उल्लास और आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं हैं, वरन् लोकसंस्कृति के संस्थान भी हैं । उनमें जहाँ रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज और चाल-ढाल की झाँकी मिलती है, वहाँ लोकादर्श, लोकधर्म, लोकदर्शन और लोकसंबंधों की सीख भी अनायास प्राप्त हो जाती है । इस दृष्टि से लोकोत्सव आज के मशीनी युग में आस्था और विश्वास के प्रतीक हैं । यदि वर्तमान लोकजीवन में लोकसंस्कृति की तस्वीर देखनी हो, तो वह लोकोत्सवों के समय घरों के भीतर आँगन या पूजागृह में नारियों के अनुष्ठान, व्रत और त्योहार से संबंधित क्रियाकलापों, आलेखनों एवं कथाओं तथा घरों के बाहर पुरुषों के क्षणिक उल्लासमय परम्परा-पालन में ही मिलेगी । सिद्ध है कि आज की इस संकटकालीन स्थिति में लोकोत्सव ही हमारी संस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं ।

लोकजीवन की सरिता सुख और दुःख के दो किनारों के बीच निरंतर बहती रहती है । यह सही है कि लोकोत्सव सुख के तट पर उगे हरे-भरे वृक्ष हैं, जो अपनी खुराक सुख-दुःख से बँधी जलराशि से ही लेते हैं, लेकिन यह भी असत्य नहीं है कि दुःख का किनारा टूट जाने पर सरिता की अस्मिता खत्म हो जाती है और फिर वृक्षों के उगने का सवाल ही नहीं उठता । मतलब यह है कि लोकोत्सवों का जन्म जीवन की उन घटनाओं से जुड़ा हुआ है, जो सुख-दुःख

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

पर निर्भर न होकर उनकी उपयोगिता के महत्त्व से संबद्ध हैं । रामनवमी और जन्माष्टमी राम और कृष्ण के महत्कार्यों और लोकादर्शों को सामने रखकर मनायी जाती हैं । महापुरुषों की जयंतियाँ मृतकों के प्रति श्रद्धा-सम्मान का नैवेद्य है । मृतकों या उनकी स्मृति से जुड़ी दुःख की अनुभूति धीरे-धीरे उनके कार्यों, आदर्शों और तज्जन्य यश पर केन्द्रित होकर सुखात्मक हो जाती है । फिर इस देश की संस्कृति में मृत्यु मोक्ष का द्वार मानी गयी है । जायसी ने भी 'नाच-नाच जिउ दीजिय' की परम्परा को स्वीकारा था ।

कृषि-युग में फसल बोने, उसकी हरियाली, समृद्धि और घर आने तक की क्रियाओं को प्रधानता देने से विभिन्न लोकोत्सवों का उदय हुआ था । इसी तरह ऋतु-परिवर्तन की घटनाएँ महत्त्वपूर्ण उत्सवों का आधार बनी थीं । धीरे-धीरे धार्मिकता का वैशिष्ट्य बढ़ा और उत्सवों में धार्मिक मूल्यों का प्रवेश हुआ । धार्मिक नेताओं और कार्यों को उत्सवों का प्रमुख आधार स्वीकारा गया । सामाजिक उत्सवों की परम्परा बहुत पुरानी है और आज भी पारिवारिक या सामाजिक घटनाओं को लोकोत्सवों की प्राणशक्ति माना जाता है । वर्तमान भावात्मक और राष्ट्रीय एकता के प्रमुख साधन ये उत्सव ही हैं । लोकोत्सव मनाने की रीतियाँ भी विविधरूपा हैं । उपवास, अनुष्ठान, पूजन, बलिदान, सहभोज, क्रीड़ा, नृत्यगीत, संगीत, काव्यकथा आदि द्वारा मनाना आज भी प्रचलित है ।

वात्स्यायन के कामसूत्र के अनुसार उत्सवों के दो प्रकार थे-एक सार्वजनिक, जैसे-यक्षरात्रि, कौमुदी जागर, सुवसन्तक आदि और दूसरा स्थानीय, जैसे-नवपत्रिका, उदकक्ष्वेड़िका, एकशाल्मली, यवचतुर्थी, आलोल, चतुर्थी, मदनोत्सव, पुष्पावचायिका आदि । सार्वजनिक से आशय राष्ट्रव्यापी समानता से है, जबकि स्थानीय से आंचलिक भिन्नता प्रकट होती है । कुछ उत्सव देश भर में एकरूपता बनाये हुए थे, जबकि कुछ में स्थान के अनुरूप अन्तर रहता था । कभी कुछ उत्सव प्रमुख होकर राष्ट्रीय बन जाते थे और कभी वे गौण होकर विलुप्त हो जाते थे । समय-समय पर उत्सवों के स्वरूप में परिवर्तन भी होता रहता था । उदकक्ष्वेड़िका जैसा स्थानीय उत्सव धीरे-धीरे होली के राष्ट्रीय उत्सव में कैसे परिवर्तित हो गया, उसका अपना एक अलग इतिहास है । हर लोकोत्सव का एकइ तिहास है और हर युग के अपने खास लोकोत्सव रहे हैं । दोनों रूपों में किसी भी अंचल के लोकोत्सवों का इतिहास लिखा जा सकता है जो तत्कालीन लोकसंस्कृति का प्रामाणिक साक्ष्य उपस्थित करने में पूर्ण सक्षम है और जिससे लोकसंस्कृति केइ तिहास की गतिशील धारा का पता भी चलता है ।

यहाँ लोकोत्सवों के अंतर्गत व्रत, पर्व और त्यौहार लिये गए हैं । व्रत में सम्यक संकल्प से किया गया अनुष्ठान होता है, जो उपवास आदि के रूप में निवृत्तिपरक और विशिष्ट भोजन, पूजन आदि के रूप में प्रवृत्तिपरक कहा जा सकता है । कुछ व्रत सामान्यतः हमेशा रखे जाते हैं क्योंकि उनसे मोक्ष मिलता है, जबकि दूसरे किसी-न-किसी कारण से किये जाते हैं । कुछ विशेष फल या इच्छापूर्ति की आशा से प्रेरित होते हैं और कुछ आत्मशुद्धि या साधना-पूर्व की पवित्रता के उद्देश्य पर बल देते हैं । व्रत के उपवास को शारीरिक और मानसिक शुद्धि का कारण भी माना जाता है । व्रतों के संबंध में बुंदेली का एक लोकगीत देखें-

अँगना में ठाँड़ीं सासो हँस पूछें, बहू कौन-कौन ब्रत कीने लाल अति सुंदर हो ।
कातिक अनाये मैंने माँव नहाये रई इतवार उपासी मैं नइँ जानों एइ गुन हो ।

व्रतों के साथ-साथ पर्वों का महत्त्व है । पर्व या परबी पर तीर्थों, गंगा या त्रिवेणी में स्नान करने से पुण्य होता है, वांछित फल की प्राप्ति होती है और मोक्ष मिलता है । जेठ में गंगा दशहरा, क्वाँर में शरद पूर्णिमा, कार्तिक पूर्णिमा,

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

मकरसंक्रांति, सोमवती अमावस्या आदि प्रमुख पर्व हैं । अर्द्ध कुंभ या कुंभी और कुंभ को महापर्व माना गया है । पर्व-स्नान में उपवास और व्रत रखने का विशेष पुण्य होता है । इसी तरह त्योहारों में भी व्रत, उपवास, अनुष्ठान और स्नान को समाविष्ट किया गया है । उदाहरण के लिए, दीपावली महापर्व है, लक्ष्मी का व्रत है और दीपों के प्रकाश का त्योहार है । उसमें यक्षरात्रि के दीपदान से लेकर आज के प्रकाश-पर्व तक न जाने कितने अनुष्ठान, व्रत, पूजन, तंत्र-मंत्र, कथाएँ, नृत्य-गीत, जुआ-क्रीड़ा आदि घुल-मिल गये हैं । इसीलिए लोकोत्सवों में व्रतों, पर्वों और त्योहारों को सम्मिलित करना उचित है ।

बुंदेलखंड में वर्ष भर में ऋतुओं के अनुसार अपने व्रत, पर्व, त्यौहार हैं और उनसे संबंधित लोकगीत, लोककथाएँ, लोककलाएँ, लोकरंजन और लोकरस हैं, जिनसे ऋतुचक्री लोकसंस्कृति का पूरा मानचित्र रेखांकित हो जाता है । उसके गतिशील विकास और इतिहास की खोज से यहाँ के लोक, लोकमन और लोकसंस्कृति के क्रमिक आरोह-अवरोह का रेखाचित्र उभरना सहज-स्वाभाविक है । इस आलेख में यही प्रयत्न किया गया है और यह रसिद्ध किया गया है कि लोकोत्सव किसी अंचल केइ तिहास के प्रमुख साधन हैं ।

लोकोत्सवों की प्राचीनता

गुहा और आखेट युग में लोकोत्सव की चेतना का निश्चय कठिन है । एक समूह का अपने शिकार को अग्नि की ज्वालाओं में रखकर उसके चारों तरफ घेरा बनाकर नाचना-गाना ओर प्रसन्न होना लोकोत्सवों की भूमिकामात्र है, उसे लोकोत्सव नहीं कहा जा सकता । गुहाचित्रों में भी नृत्य के दृश्यों का अंकन हुआ है, लेकिन उनमें उत्सव का संकेत नहीं है । उत्सवी चेतना का उदय कृषि युग में ही हुआ है । बुंदेलखंड में कृषि युग देर में आया, इसलिए दीर्घकाल तक आदिम जातियों का बोलबाला रहा और उनके उत्सव प्रचलित रहे । आदिवासियों के उत्सव आर्यों से भिन्न थे, इसी कारण आर्य उन्हें अन्यव्रत वाले (अन्यव्रताः) कहा करते थे । इतना निश्चित है कि मृतकों के प्रति श्रद्धा बहुत पुरानी है और इस आधार पर 'चैत्यमह' लोकोत्सव बहुत प्राचीन ठहरता है । चिता से संबद्ध होने पर ही 'चैत्य' बना है । शवदाह-स्थल पर मृतक की स्मृति-सुरक्षा हेतु या तो वृक्ष लगाया जाता था या कोई स्तूप अथवा पत्थर खड़ा किया जाता था । पहले को चैत्यवृक्ष और दूसरे को चैत्यस्तूप कहा जाता था । उन्हीं को केन्द्र में रखकर चैत्यमह और स्तूपमह लोकोत्सव मनाये जाते ते । चैत्यवृक्ष से ही वृक्षपूजा और वृक्षमह का प्रारम्भ हुआ था । वृक्षमह से जुड़े वनमह, उद्यानमह, नदीमह, तड़ागमह, कूपमह आदि भी विकसित हुए । चैत्यमह से भूतमह का जन्म हुआ था, जिसमें मृतक की स्मृति का ही आधार लिया गया-था ।

आदिम जातियों में शारीरिक शक्ति की परिक्षा के लिए शस्त्र-संबंधी उत्सवों का आयोजन प्रचलित था । उनमें धनुर्मह प्रमुख था, जिसमें धनुष के द्वारा वीरों की परिक्षा ली जाती थी । नागमह और यक्षमह-दोनों बहुत पुराने लोकोत्सव हैं । नागदेवता के उत्सव को नागमह कहना सहज है । वह यक्षमह से बी पुराना है । नागमह की प्रधान विशेषता है-उसकी विकसनशीलता । उसमें वैदिक, बौद्ध और जैन मान्यताओं का भी मसन्वय होता गया है । यक्षमह में भी नागमह की तरह व्यापकता है । गोंड़ों के दोवता 'ठाकुर' के बाद 'यक्ष' ही पूरे अंचल में सम्मानित रहे थे । यक्षों के बाद शिव आये, इसलिए रुद्रमह और शिवमह जैसे उत्सवों की नींव पड़ी । 'शक्तिमह' या देवीमह इन सबसे पुराना था ।

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

सामाजिक उत्सवों में सुरापान कार महोत्सव 'सुरा-नक्खत' और मूर्खता की मस्ती का 'बाल-नक्खत' इसी समय की उपज हैं । नृत्य-गान, पशु-पक्षी और पहलवानी, लड़ाई, दौड़ने की प्रतियोगिता आदि मनोरंजन भी सामूहिक रूप में होते थे, लेकिन उनके नामकरण का पता नहीं चलता ।

कृषियुग में अनेक लोकोत्सव अदित हुए, जो भूमि, जल, फसल और ऋतु से संबंधित थे । भूमि और ऋतु-परक लोकोत्सव संधिकाल के थे । भूदेवी की पूजा उपज या सृजन की देवी के रूप में होती थी, उसके उपरान्त भवानी या शक्ति का अस्तित्व आया । कृषि के चमत्कार से प्रभावित होकर भूदेवी या भुइयाँरानी का पूजन और छेरता का उत्सव सर्वाधिक महत्त्व का था, क्योंकि उससे ही 'देवी' के लोकोत्सवों का स्वरूप बना । भूमि की उपज में ऋतुओं के असर का अनुभव ऋतुपरक उत्सवों का जन्मदाता था । गोंड़ों का बिदरी, भीलों के दिवासा और ढोडी, कत्तिक-नक्खत्त और कौमुदी जागर जैसे लोकोत्सव ऋतु-परिवर्तन से संबंधित थे । होली भी ऋतुपरिवर्तन और फसल का उत्सव था, पर उसका यह नाम बाद में पड़ा । भीलों का 'इंदल' अच्छी वर्षा और समृद्ध फसल के लिए मनाया जाता था । 'वप्प-मंगल दिवस' हल चलाने और फसल बोने का उत्सव था, जबकि 'हरढिली' खरीफ फसल की बोनी के बाद हलों को ढीलने का उत्सव था । बुवाई के बाद पौधे कुछ बड़े होने पर और दाने आने पर भील 'जातर' के उत्सव मनाते हैं । 'जवारा' भी वर्षा में दो बार मनाया जाता था और खरीफ तथा रबी की फसल का उत्सव था, बाद में देवी-पूजा से जुड़ गया था । फसल का ऐसा ही त्यौहार कजरियों या भूजरियों का था, जो बाद में भाई-बहिन के प्रेम का प्रतीक बन गया । गौंड़ों का 'बकबंधी' भी फसल को रोग से और गोधन को किसी भी बाधा या बीमारी से बचाने का उत्सव था, जो आगे चलकर दूसरे रूप में परिवर्तित हो गया । फसल आने पर 'नवई' और 'नवाखानी' उत्सव मनाये जाते थे । एक भीलों का था, दूसरा गोंड़ों का, लेकिन दोनों नयी फसल के उपभोग से संबंधित थे ।

यहाँ इन लोकोत्सवों का उतना ही परिचय देना उचित है, जितना उनका विकास इस युग में हुआ था । कुछ तो पहले लौकिक थे, बाद में धार्मिक प्रभाव से बदल गये और कुछ या तो अदृश्य हो गये या फिर रूपान्तरित होकर नये बन गये ।

चैत्यमह और स्तूपमह-बताया जा चुका है कि मृतकों की स्मृति में स्थापित चैत्यों और स्तूपों में मनाये जाने वाले लोकोत्सव चैत्य और स्तूप-मह कहे जाते थे । रामायण, महाभारत और जैन-बौद्ध साहित्य में वर्णित चैत्य और स्तूप बड़े प्रासाद और स्तूप थे, पर प्राचीन काल में वे वृक्ष और प्रस्तर के रूप में ते । आज भी बुंदेलखंड के गाँवों में मृतक की स्मृति में वृक्ष लगाने और चबूतरा बनवाने की प्रथा अवशिष्ट है । पहले चैत्य की प्रतिष्ठा में भोजन और वस्त्र एवं अन्न-दान होते ते । श्रद्धा और पूजा की परम्परा भी इन्हीं उत्सवों से प्रारम्भ हुई थी ।

वृक्षमह-चैत्यमह से ही वृक्षमह का विकास हुआ है । आदिवासियों के लिए वृक्ष जहाँ फल देता था, वहाँ जंगली पशुओं से सुरक्षा के रूप में गुप्त निवास की व्यवस्था करता था । इसीलिए वह लोकजीवन में पहली उपयोगी वस्तु के रूप में लोकप्रिय हुआ था । इसके बाद चैत्यवृक्ष बनकर श्रद्धा और सम्मान पाने से पूजा का पात्र हो गया । महाभारत में 'सुपूजितः' कहकर वृक्ष की लोकप्रतिष्ठा को स्पष्ट कर दिया गया है । निश्चित है कि ऐसे पूज्य वृक्ष की रक्षा करना लोककर्तव्य था । सभी आदिवासी किसी विशिष्ट अवसर पर वृक्ष के नीचे एकत्रिक होकर उत्सव मनाते थे ।

नदीमह-वृक्ष के बाद आदिवासियों कीर आवश्यकता जल थी । जल के बिना जीवन असंभव था और नदी उसी जल से आपूरित थी । इस कारण वह लोक के लिए उपयोगी और पूज्य मानी गयी । नदी की पूजा और उसके उत्सव

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

को नदीमह कहा गया है । नदी की तरह जल के जितने स्त्रोत थे, उतने सभी पूज्य माने जाने लगे । बाद में नदियों को विश्व की माताएँ कहकर सम्मानित किया गया ।

भूतमह-आदिवासियों का विरश्वास था कि आपत्तियों और व्याधियों को टालने के लिए भूत, प्रेत, पिशाच आदि के सम्मान में भूतोत्सव मनाना लाभप्रद है । भूत का रुष्ट होना गर्भवती स्त्री और छोटे बच्चों के लिए हानिकर है । इस वजह से आदिवासी पूजन और नृत्य-गीत द्वारा उन्हें प्रसन्न करते थे ।

धनुर्मह-प्रस्तर-शस्त्रों से लेकर धनुष तक में आदिवासियों का कौशल प्रसिद्ध था । लगभग सभी निष्णात थे, परन्तु श्रेष्ठता के निर्धारण के लिए धनुर्मह के उत्सव का आयोजन होता था, जिसमें शस्त्रधारी अपने लाघव की परिक्षा देते थे । यह उत्सव एक शस्त्र-प्रतियोगिता की तरह प्रारम्भ होता था । विजयी वीर के सम्मान में भोज और नृत्य-गीत होते थे । आगे चलकर इसका विकास दूसरी तरह से हुआ, जिसके साक्ष्य रामायण और महाभारत में मिलते हैं ।

शक्तिमह-स्पष्ट किया जा चुका है कि भूदेवी या भुइयाँरानी के महोत्सव से ही भुमानी, भवानी या शक्ति-पूजा का विकास हुआ है । आदिवासी शक्ति के विशेष स्वरूप या विग्रह से परिचित नहीं ते, वरन् उनके मन में लोकदेवी की ऐसी कल्पना थी, जो सृजन या निर्माण की प्रेरणाशक्ति से मेल खाती ती । यह उत्सव एक तरफ फसल की उपज से जुड़ा था, तो दूसरी तरफ देवी-पूजन से । भीलों में यह नवणी या नवरात्रा के रूप में प्रसिद्ध है, क्योंकि यह क्वाँर माह के शुक्ल-पक्ष की नवमी को मनाया जाता है । वैसे यह परमा से प्रारम्भ होकर नवमी तक नौ दिनों का अनुष्ठानिक व्रत भी है, जिसके कारणइ से नवरात्रा भी कहा जाता है । गौंड़ों में यह वर्ष में दो बार-एक क्वाँर में तो दूसरा चैत्र-शुक्ल-पक्ष के प्रारम्भ के नौ दिनों में मनाया जाता है और इसे व्रत एवं त्योहार-दोनों का रूप दिया जाता है । जौ बो कर नवें दिन तक उनको सींचने-पूजने से इसका नाम जवारा त्यौहार पड़ गया है । आदिवासी इसे नौ दिन तक मनाते हैं, इसीलिए उनके लिए यह प्रमुख त्योहार है ।

सुरा-नक्खत्त-सुरा-पान आदिवासियों की उत्सवता का प्रमुख अंग था । किसी प्रसन्नता को व्यक्त करने या दुःख की पीड़ा पीने के लिए पान-गोष्ठी या उत्सव हुआ करता था । इसके लिए कोई विशिष्ट तिथि निश्चित न थी, किसी सफलता या विजय पर यह उत्सव होता था । शुरू में छोटे-बड़े या धनी-निर्धन का कोई भेदभाव नहीं था, बाद में पानगोष्ठियाँ अलग-अलग वर्गों में बँट गयी थीं । सुरापान के बाद गीतनृत्य, विवाद और बकवास, सब होते ते ।

बाल-नक्खत्त-यह उत्सव आज के मूर्ख-सम्मेलन की तरह होता था । गाँव का लोक किसी एक समूह के वश में हो जाता था, जो गोबर-लपेटे, कीचड़-सने और मुखरँगे वेश में गालियाँ बकता हुआ घूमता था और द्वार-द्वार जाकर इच्छित वस्तु वसूल करता था । उत्सव का यह रूप बाद में होली के त्योहार में सम्मिलित हो गया था ।

रंजनोत्सव-मनोरंजन के लिए पशु-पक्षियों की लड़ाई, मल्लयुद्ध, नृत्यगीत, दौड़-प्रतियोगिता, खेल आदि का एक सामूहिक आयोजन होता था, जिसका नाम ज्ञात न होने से उसे रंजनोत्सव कह दिया गया है और जो भविष्य में समज्ज या समाज के नाम से विख्यात हुआ था । समाज ने ही अखाड़े जैसी मध्ययुगीन सांस्कृतिक संस्था दी और अखाड़ों से ही गोष्ठियों का रूप विकसित हुआ ।

भूदेवी उत्सव-भूमि को देवी मानने का प्रमुख कारण उसकी उर्वरता थी । भिन्न ऋतुओं में वृक्षों से फल, खेतों से

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

अन्न और अपने भीतर से जल देनेवाली भूमि आदिवासियों के लिए सबसे अधिक पूज्य हो गयी थी, अतएव उसके सम्मान और पूजन में उत्सव मनाया जाता था । इसका नाम नहीं मिलता, पर बुंदेलखंड में भुइयाँरानी की पूजा होती है और सभी स्त्रियाँ अपना भोजन लेकर गोठ करती हैं ।

छेरता-गोड़ों का यह बच्चों का त्योहार आदिकाल की मूल प्रवृत्ति का स्मरण दिलाता है । छेरता का अर्थ है धरती और जब गोंड़ बच्चे एक-एक द्वार पर जाकर जमीन को कुरेदकर बार दुहराते हैं-'छेर छित्ता छेरता' जिसका अर्थ है कि 'धरती हमें अनाज दे', तब वे वस्तुतः आदिवासियों की आदिम आवाज ही लगाते हैं । भले ही बच्चों की आवाज पर घर की स्वामिनी उनकी झोलियाँ अनाज से भर दे, पर धरती से अनाज की माँग बहुत पुरानी है । इसमें भी कोई संदेह नीहं है कि यह माँग बराबर बनी रही और उसके साथ यह त्योहार भी जीवित रहा ।

बिदरी-इस लोकोत्सव में पहले बादल की पूजा होती थी, बाद में भूमि और अन्न की होने लगी । बिदरी का अर्थ बदरी होता है, जिससे गोंड़ किसान अच्छी वर्षा की प्रार्थना करते थे । यह फसल बोने के पहले जेठ के महीने का त्योहार है । सभी किसान मुखिया के आँगन में पूजा का सम्भार करते थे । कभी-कभी गाँव के बाहर किसी विशिष्ट स्थल को चुन लेते थे, जहाँ होम और बलि देकर वर्षा की देवी 'बदरी' को प्रसन्न करते थे । आगे चलकर ठाकुर देव अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये, इसलिए उनकी पूजा होने लगी और उसी के साथ भूमि और अन्न की भी जुड़ गयी । बैगा (पुजारी) और मुखिया पूजा की सामग्री के साथ ठाकुर देव के चौरे पर जाते हैं । बैगा पहले जल चढ़ाता है, बाद में रार का होम देकर सफेद मुर्गो की बलि देता है और अन्न के ढेर पर खून का तर्पण करता है । धरती माता को भी होम देकर काली पोई (मुर्गी) की बलि चढ़ाता है और अन्न पर खून का तर्पण करता है । इसी तरह खेरोदेव को लाल मुर्गे की बलि से प्रसन्न करता है । पूजा के बाद अन्न को किसानों में बाँटा जाता है, जिसे वे बीज में मिला देते हैं । उनका विश्वास है कि इससे फसल अच्छी होती है ।

दिवासा-ऋतुपरक उत्सवों में भीलों का दिवासा भी है, जिसमें वर्षा के देवता बाबदेव की पूजा की जाती है । संध्या-काल में देवता को जल से स्नान कराने के बाद तेल और सिन्दूर का घोल चढ़ाते हैं, जो वस्त्र का प्रतीक है । दूध में आटा मिलाकर पकाते हैं और उसी प्रसाद को बाँटा जाता है । प्राचीन काल में इतनी ही पूजा से देवता अच्छी वर्षा का आशीर्वाद दे देता था, लेकिन बाद में बड़वा को भार (भाव) आना भी शुरू हो गया । लोककवियों ने गाथा भी रच दी, जो ढाँक और कामड़ी पर गायी जाती है । बकरे की बलि देने की प्रथा और तंत्र-मंत्र भी बाद में जुड़ गये ।

ढोडी-यह उत्सव भी वर्षा से संबंधित है । बच्चों के समूह पर सूप रख और हाथ में जलती लकड़ी रेकर भील द्वार-द्वार जाते हैं और घेरे में घूमते हुए गाते हैं-'ढेढर माता पानी दे, पानी दे । पानी नइँ तो दाना दै, दाना दै ।' गृहस्वामी सूप पर पानी डालता है और अनाज भी देता है ।

गढ़-गढ़ के प्रतीक रूप में रन्दा मारकर चिकनाया और तेल पिलाया लम्बा-मोटा खम्भ मैदान के बीचोबीच गाड़ दिया जाता है । उसके चारों तरफ भील युवतियाँ अपने हाथों में सोंटियाँ और लाठियाँ लेकर खड़ी रहती हैं । जब युवक अपने हाथों में गुड़ की पोटलियाँ लेकर खम्भ में चढ़ने का प्रयत्न करते हैं, तब युवतियाँ उन्हें सोंटियों और लाठियों से रोकती हैं । चिकने खम्भ पर फिसलन भी बाधा देती है ।

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

फिर भी जो युवक खम्भ के शिखर पर गुड़ की पोटली बाँध आता है, वह विजयी माना जाता है और पुरस्कृत होता है । प्राचीन काल में पुरस्कार-स्वरूप रक्षक कुमारियों में से कोई एक मिल जाती थी, जिसे विजेता स्वयं चुनता था और वरण करता था । बाद में वरण-खम्भ ही जय-खम्भ बन गया और उसका नाम गढ़ पड़ा ।

कत्तिक-नक्खत्त-कार्तिक पूर्णिमा से ऋतु-परिवर्तन होता था और फसल भी आ जाती थी । इसलिए सभी उल्लसित होकर अपने घरों को सजाते थे और रात में दिये जलाते थे । रात्रि के प्रकाश में लोग नये वस्त्र और आभूषण पहनकर घूमते थे और एक-दूसरे से मिलते थे । रात में यक्षराज की पूजा भी होती थी ।

कौमुदी जागर-क्वाँर की पूर्णिमा के जागरण को 'कौमुदी जागर' कहा गया है ऋतु-परिवर्तन-संबंधी यह उत्सव रात भर मनाया जाता था । घर-घर सजता था । स्वच्छ वस्त्रों में स्त्री-पुरुष रात को ज्योत्सना में घूमते थे । नृत्य, गीत और अन्य मनोविनोदों से रात भर चहल-पहल रहती थी ।

इंदल-वर्षा और फसल में वांछित सफलता पर भील कार्तिक-अगहन के बीच इंदल का आयोजन करते थे । उसमें सबेरे बड़वा (पुजारी) जंगल जाकर कलम वृक्ष की पूजा करता है और उस पर दारू चढ़ाता है । उसमें कच्चा सूत लपेट कर चिहित कर देता है । संध्या-काल में स्त्री-पुरुष नाचते-गाते उसी वृक्ष की पूजा करते हैं और मुर्गे की बलि देते हैं । वृक्ष की पाँच शाखाओं का तिलक करने के बाद वे उन्हें काटकर समारोह के साथ गाँव के खुले मैदान में ले जाते हैं, जहाँ उन्हें भूमि-पूजन के बाद एक सीध में रोप दिया जाता है । इन शखाओं के आस-पास पुरुष और बच्चे नृत्य करते हैं और स्त्रियाँ गाती हैं । फिर उनके चारों तरफ बकरों की बलि दी जाती है और भोज होता है । लोग घर से रोटी लाकर स्वयं खाते हैं और अतिथियों का भोजन वहीं बनता है । कहीं-कहीं पर रोपित शाखाओं के सामने पटों पर क्वाँरी लड़कियों द्वारा लायी मिट्‌टी की टोकरियाँ रख देते हैं और बड़वा (पुजारी) उनमें गेहूँ के या मोटे अनाज के दाने छोड़ता है । इस तरह यह वृक्ष लगाने और फसलें बोने-दोनों का लोकोत्सव सिद्ध होता है ।

वप्प-मंगल और हरढिली-वर्षा के बाद जुताई प्रारम्भ करने के प्रथम दिवस को 'वप्प-मंगल-दिवस' कहा जाता था और बोनी के समापन पर बैलों को हर से ढीलने के कारण 'हरढिली' उत्सव मनाया जाता था । वैसे वप का अर्थ बीज बोना होता है और संस्कृत 'वप' का प्राकृत में 'वप्प' हो जाता है, लेकिन कृषि-उत्सव तो हल चलाने के पहले दिन ही होता है । दोनों में हल और बैलों की पूजा होती है । भोज, नृत्य और गीत होते हैं । पुजारी और बैगा बैलों की रक्षा के लिए ही नहीं, फसल की समृद्धि के लिए भी प्रकृति के प्रतीक हर घर को देते हैं ।

जातर-बीज बोने के बाद फसल (मक्का या अन्य) के पौधे बड़े होने और फसल में दाने भरने पर दो बार 'जातर' उत्सव भीलों द्वारा हर्षोल्लास से मनाया जाता था । गाँव का मुखिया यह आयोजन अपने घर करता था अथवा सार्वजनिक स्थान पर होता था । ढाँक और कामड़ी पर गीत, भजन गाये जाते थे और बकरे या मुर्गे की बलि भी दी जाती थी । फिर सामूहिक भोज होता था । कभी-कभी बड़वा को भार (भाव) आता ता और वह लौकिक उत्सव को धर्म की आस्था से जोड़ने का सार्थक माध्यम था ।

जवारा-जातर की तरह यह भी एक लौकिक उत्सव था, बाद में देवी की पूजा से जुड़कर धार्मिक बन गया था । जवारा क्वाँर और चैत्र के महीनों में वर्ष में दो बार होता था । दोनों बार प्रथम

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

दिन जौ बोये जाते हैं, फिर नौ दिन निरंतर सींचे और पोसे भी जाते हैं तथा नवें दिन संध्या-काल में किसी जलाशय या जलधारा में सिराये जाते हैं । नौ दिन तक उनकी पूजा होती है । इस प्रकार जौ (यव) के इतने सम्मान के कारण ही इसे 'जवारा' कहा जाता है । जै अन्न या फसल का प्रतिनिधित्व करता है । अतएव यह अन्न का ही सम्मान है । पहले तो यह फसल का ही लोकोत्सव था, बाद में उपजाने वाली शक्ति से संबद्ध होकर देवी-पूजा का व्रत और उत्सव हो गया । धीरे-धीरे उसमें कर्मकांड और चमत्कार भी शामिल होते गये, जिनका विवरण कालक्रम के अनुसार दिया जाएगा ।

कजरिया-यह त्योहार भी फसल से संबंधित था । श्रावण-शुक्ल पक्ष की नवमी को गेहूँ-जौ मिलाकर सात या नौ दोनों में बोये जाते थे और सातवें दिन पूर्णिमा को उन्हें किसी सरोवर या नदी में खोंट कर सिरा दिया जाता था । प्राचीन काल में लोग फसल की स्थिति का अनुमान लगाने के लिए ही यह आयोजन करते थे । बाद में अन्य उद्देश्य भी उससे जुड़ गये ।

बकबन्धी-गोंड़ों का बकबन्धी आषाढ़ मास की पूर्णिमा को मनाया जानेवाला रक्षा-तेयौहार है । बैगा छेवले (पलाश) की जड़ से रेशे निकलवाता है और उन्हें हल्दी से रँगवाकर मंत्र पढ़ते हुए अपने जजमानों कीर दायीं कलाइयों में बाँधता है । घरों में रखने या बँधे होने और खेतों में गाड़ने से दोनों सुरक्षित रहते हैं । न तो घर के लोगों और पशुओं को कोई बाधा सताती है और न फसल में कोई बीमारी लगती है । यही विश्वास इस त्योहार का प्रमुख आधार था । बुंदेली में छेवले की जड़ के रेशों को 'बकौंड़ा' कहते हैं और इस त्योहार को 'बकौंड़याऊ' पूनो । निश्चित है कि भाषिक दृष्टि से दोनों शब्दों का स्त्रोत 'बक' रहा है और यह त्योहार गोंड़ों की देन है ।

नवई-नयी फसल आने पर भील नवई त्योहार मनाने का दिन निश्चित करते है । स्त्रियाँ नये अनाज की खीर, पकवान् आदि और सूब्जी तैयार करती हैं, जिन्हें पलाश के पत्तों पर रखकर कुलदेव, गृहदेव और मृत पुरखों को भोग लगाया जाता है । फिर गाँव के लोग गाँव के देवता के स्थान पर जाकर उनकी पूजा करते हैं और भोज्य तथा दारू चढ़ाते हैं ।इ सके बाद एक-दूसरे के यहाँ जाकर खाते-खिलाते हैं । कहीं-कहीं सामूहिक भोज की प्रथा थी और उसमें दारू और माँस का प्रयोग भी होता था । इस प्रथा के अवशेष आज भी मौजूद हैं ।

नवाखानी-नवई की तरह नाखानी गोंड़ों का नयी फसल का त्योहार है । भादों के शुक्ल पक्ष में कोई दिनइ सके आयोजन के लिए निश्चित होता है । रात में घर का मुखिया पीले चावल देकर कुलदेवता और पुरखों को नवाखानी के लिए निमंत्रित करता है । सबेरे घर की पवित्रता के बाद खीर, भात, पकवान् आदि तथा सब्जी बनायी जाती है और उन्हीं का भोग लगाया जाता है । घर का मुखिया स्नानादि के बाद कुलदेवता, अन्य देवी-देवताओं और मृत पुरखों की पूजा करता है, रार का होम करता है और दीप दिखाता है । फिर नये पकवानों का भोग लगने पर घर के सभी लोग प्रसाद रूप में नया भोजन करते हैं । यह सब परिवार तक ही सीमित रहता है ।

रुद्रमह और शिवमह-विद्वानों और पुरातत्त्वविदों का मत है कि रुद्र और शिव की पूजा सबसे प्राचीन है । निषाद जातियों में शिव का भयंकर रूप मान्य था, जो रुद्र की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है और जिसका अवशिष्ट भैरव है । भील शम्भू को अपना पिता और रक्षक बतलाते हैं । गोंड़ों के बड़ा देव ही आगे चलकर महादेव हो गये हैं । सौंरों में भैरव की मान्यता थी । द्रविड़ों के पशुपति शिव के ही रूप थे । आशय यह है कि इस अंचल में भवानी (शक्ति), यक्ष के

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

बाद शिव ही लोकदेव रहे ।इ स आधार पर शक्तिमह, यक्षमह के साथ शिवमह भी मनाया जाता था, जिसमें शिव के विग्रह की स्थापना, पूजा, नृत्य-गीत, बलि, भोज आदि होता था ।

स्कन्दमह-स्कंद पहले अपदेव ही थे । उनके जन्म के संबंध में एक मत यह है कि वे रुद्र के वीर्य से उत्पन्न हुए थे और दूसरा यह है कि वे अद्भुत (यक्ष) के पुत्र थे । दोनों का अपना औचित्य है, क्योंकि स्कंद की मान्यता रुद्र और यक्ष के बाद हुई थी । स्कंद को रुद्र और यक्ष से जुड़ने पर प्रतिष्ठा मिली थी । फिर अग्नि और इन्द्र के साथ सामंजस्य होने पर वे महिमामंडित हो गये । इस अंचल में स्कंदमह का काई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, पर पिशाच रूप में वे भयंकर पुरुषग्रहों और स्त्रीग्रहों के अधिपति थे तथा पिशाची प्रवृत्ति आदिवासियों में मिलती है । यह निश्चित है कि स्कन्द जैसे अपदेवता की लोकप्रियता इस भूभाग में थी और इसी कारण आदिवासी उसे महत्त्व देते थे ।

उक्त लोकोत्सवों से विदित है कि वे निम्न वर्गों में बँटे हुए थे-(१) प्रकृतिपरक लोकोत्सव, जैसे-वृक्षमह, नदीमह आदि । (२) ऋतुपरक, जैसै-बिदरी, दिवासा, ढोडी, कत्तिक-नक्खत्त, कौमुदी जागर आदि । (३) कृषिपरक, जैसे-छेरता, वप्पमंगल, हरढिली, जातर, जवारा, कजरिया, नवई, नवाखानी आदि । (४) रंजनपरक, जैसे-धनुर्मह, बाल-नक्खत्त, सुरा-नक्खत्त आदि । (५) श्राद्धपरक, जैसै-चैत्यमह, स्तूपमह आदि । (६) अपदेवतापरक, जैसे-भूतमह, स्कंदमह आदि । (७) देवतापरक, जैसे-शक्तिमह, शिवमह आदि ।इ न्हीं बिन्दुओं को क्रमिक रूप में रखकर लोकोत्सवों के प्रथम चरण की विकास-रेखा का अध्ययन किया जा सकता है ।

विकास का द्वितीय चरण

द्वितीय चरण के अंतर्गत महाभारत काल से लेकर हर्ष काल तक का दीर्घकाल आता है, जिसमें लोकोत्सवों के प्रति लोक का दृष्टिकोम भी बदला और उनकी विभिन्न पद्धतियाँ भी विकसित हुईं । चेदि के जनपद बनने से इस अंचल का गौरव बढ़ा और दूसरे अंचलों एवं साम्राज्यों से सम्पर्क होने पर लोकोत्सव व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित होने लगे । बाहर के लोकोत्सवों ने अपना प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया । नागों और वाकाटकों ने अपने राज्यों को शक्तिशाली बनाया, पर उनके बाद यहाँ की राजनीतिक शक्ति निर्बल पड़ गयी थी । यहाँ के लोकधर्म का विकास भी गतिशील बना रहा । पहले वैदिक धर्म ने अपने आश्रम बनाये, बाद में बौद्ध-धर्म का प्रसार रहा । शुंगों ने भागवत-धर्म और नाग-वाकाटकों ने शैव-धर्म का महत्त्व प्रतिष्ठित किया, जिसके कारण कई लोकोत्सव विशिष्ट हो गये । कर्मकाण्ड की महत्ता भी बढ़ी । धार्मिकता अनिवार्य-सी होती गयी । पुराणकारों ने तो लोकोत्सवों की लोककथाएँ और व्रत-कथाएँ लिखकर उन्हें अमरत्व प्रदान कर दिया । असल में उपयोगी प्रथाएँ, रीतियाँ आदि धर्म के अंतर्गत लोने से उनकी अनिवार्यता बनी रही । इस तरह लोकहित, लोकधर्म और लोकोत्सव का अद्भुत संघटन तैयार हुआ जो आज तक किसी-न-किसी रूप में प्रभावी रहा है ।

महाभारत काल

रामायण-काल में यज्ञकेन्द्रित उत्सवधर्मिता का प्रवेश इस अंचल के लोकोत्सवी मन के लिए बिल्कुल नया अनुभव था, लेकिन उससे राक्षसी उत्सवों के खिलाफ उठने वाली प्रतिक्रिया को एक नयी दिशा मिली । इस प्रकार इस काल की

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

उतसवी मानसिकता में बदलाव तो आया, पर वह अपूर्ण ही रहा । महाभारत काल में परिवर्तन के सही स्वरूप का पता चलता है । उदाहरण के लिए, महाभारत के पहले इन्द्रमह का आयोजन होने लगा था । आदिवासियों में वर्षा के देव इन्द्र से मिलते-जुलते हैं, फिर भी उन्हें इन्द्र कहना कठिन है । जबकि महाभारत से स्पष्ट है कि चेदिनरेश उपरिचर वसु ने इन्द्रमह लोकोत्सव का श्रीगणेश किया था ।इ न्द्र ने उन्हें एक वैणवी (बाँस की) यष्टि प्रदान की थी, जोइ न्द्र -पूजा की प्रतीक बनी । स घटना-प्रधान कथा का आशय यही है कि इस जनपद में वैदिक देवता इन्द्र और वैदिक उत्सवइ न्द्रमह को स्वीकृति मिल चुकी थी । इस प्रकार आदिवासियों के वर्षा-संबंधी उत्सवों में भी इन्द्रदेव के अनुरूपी विग्रह को महत्त्व मिलने लगा था । लेकिन गोचारणी यादवी संस्कृति के प्रतिनिधि कृष्ण ने इन्द्रमह के स्थान पर गिरिमह और गोमह को लोकमान्यता दिला दी । इस रूप में उत्सवी लोकमन के परिवर्तन का एक निश्चित इतिहास मिलता है ।

रामायण में **धनुर्मह** और **सामाज** नामक लोकोत्सवों का प्रमाण मिलता है । धनुर्मह में शिव की पूजा का प्रवेश हो गया और वह परीक्षा का माध्यम होकर विवाह से जुड़ गया । रामायण का धनुष शिव या दिव्य-धनु था । महाभारत में वह जहाँ द्रौपदी-स्वयंवर का साधन बना, वहाँ कंस के धनुर्मह में कृष्ण की शक्ति-परीक्षण का शस्त्र । रामायण में **धनुर्मह** स्वतंत्र उत्सव है, जबकि महाभारत में **समाज** का एक अंग है । इसका सीधा अर्थ है कि महाभारत-काल में 'समाज' नामक लोकोत्सव अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया ता । रामायण-काल में **समाज** लोकप्रिय थे । राक्षस भी **समाज** मनाते थे । महाभारत-काल में वह दीर्घकालीन उत्सव हो गया था । उसमें न जाने कितने विनोद सम्मिलित हो गये थे । **समाज** में राजसी, धनी और निर्धन-सभी भागीदार होते थे । सभी के लिए अलग-अलग मंचों की व्यवस्था रहती थी ।इ न उत्सवों की विशेषता यह थी कि इनकी तिथि, निर्धारित नहीं थी । आवश्यकता होने पर या हर्ष के अवसर पर ये बुलाये जाते थे । जनपद का शासन समाजो का संरक्षक होता था,इ सलिए वह अपना समाज भी चलाता था । कभी-कभी समाजोत्सव भिन्न-भिन्न कलाकारों, पहलवानों इन्द्रजालिकों आदि के दलों के जुड़ाव से अपना स्वरूप ग्रहण करता था। इस दृष्टि से धनुर्मह जैसे उत्सवों की अपेक्षा **समाजों** में सामूहिकता अधिक रहती थी ।

प्रकृतिपरक लोकोत्सव प्रकृतिपरक लोकदेवों से संबद्ध हो गये थे । महाभारत में इन देवों और लोकोत्सवों का संकेत मिलता है । नरवरगढ़ के नरेश नल के अदृश्य हो जानो पर दमयन्ती विलाप करते हुए वनदेवता, गिरिदेवता और नदीदेवता का स्मरण करती है । **गिरिमह, रैवतकमह** का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि प्रकृतिपरक लोकोत्सव विद्यमान थे । **ब्रह्ममह** या ब्रह्म उत्सव को आदिपर्व में ब्रह्ममहोत्सव भी कहा गया है, जिससे यक्ष-पूजा और उत्सव का पता चलता है । पिशाच, भूत आदि अपदेवताओं की पूजा होती थी, अतएव **भूतमह** और **स्कंदमह** जैसे लोकोत्सवों की परम्परा थी । महाभारत के सभा पर्व में लिखा है कि प्रत्येक घर में एक राक्षसी का वास होता है, जो गृहदेवी कहलाती है । सौप्तिक पर्व में काली के लिए कालरात्रिस्वरूपा कहा गया है, जोकि पाश में बँधे प्रेतों को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी । रूद्ररूप में महादेव की पूजा अधिक प्रचलित थी । तात्पर्य यह है कि उग्र अपदेवता और देवता ज्यादा पूजित थे । महाभारत में इस तथ्य को स्वीकारा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु आदि निरीह समदर्शी दोवताओं की पूजा करन्ा आवश्यक नहीं समझा जाता था (शान्ति पर्व १५/१६-१९) । इस तरह इस युग में अपदेवता का देवता के रूप में विकास स्पष्ट है । इस अंचल का लोक भी यक्ष, स्कंद, काली, रुद्र आदि को देवता के रूप में श्रद्धा देता था और उनसे जुड़े **यक्षमह, स्कंदमह, शक्तिमह, रुद्रमह** आदि लोकोत्सव मनाता था । ऋतुपरक और कृषिपरक उत्सव भी मनाये जाते थे, पर इस अंचल में उनके स्वरूप का प्रामाणिक वर्णन प्राप्त नहीं है । **हस्थिमह** जैसै उत्सव भी इस युग में होने लगे थे, क्योंकि चेदिनरेश शिशुपाल एक प्रभावशाली राजा थे और उनके राज्य में हाथियों को पंक्तिबद्ध खड़ा करके उत्सव मनाना कठिन नहीं था ।

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

मौर्य-शुंग काल

इस काल के प्रकृतिपरक उत्सवों में वृक्षमह, **गिरिमह, नदीमह, वनमह, तड़ागामह** आदि प्रचलन में थे । ॠतुपरक उत्सवों में कत्तिक-नक्खत्त, कौमुदीजागर आदि के साथ बिदरी, दिवासा, **ढोडी** आदि आदिवासी-परम्परा के उत्सव भी मनाये जाते थे । कृषिपरक उत्सवों में परम्परित उत्सव ही प्रमुख थे । उनमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन स्वाभाविक था । उदाहरण के लिए, **वप्प-मंगल** में हल चलाते समय कुछ मंत्र पढ़े जाने लगे थे । राजा किसान को एक हल सौंपकर उसे प्रोत्साहन देता था । रंजनपरक लोकोत्सवों का विकास निरंतर होता रहा है । सुरा-पान (सुरा-नक्खत्त) की भी प्रसार हो गया था । जातक-काल में सप्ताह-भर मनाने के साक्ष्य मिले हैं । राजा की विजय पर यह उत्सव राज्य की तरफ से होता था । मित्रों, साधु-संतों और राजा को सुरा की भेंट भेजने का चलन था । बालनक्खत्त और अधिक स्वच्छंद होकर मनाया जाने लगा ता । सात दिन तक लोगों का गोबर और कीचड़ लपेटे दूसरों को गाली देना और सिक्के लेना चलता रहता था । वस्तुतः यह होली का पूर्व रूप ही था।

बहुधा मनोविनोद **समाजों** में आयोजित होते थे । जातकों में कुश्ती, पशुओं की लड़ाई, गौ-क्रीड़ा, पक्षियों की लड़ाई, जुआ और सुरा-पान की गौष्ठियाँ होती थीं । समाज के लिए निमंत्रण भेजे जाते थे और नाटककार, कलाकार,इन्द्रजालिक आदि के अलावा नगर के मान्य नागरिक भी आते थे । एक तरह से यह लोकोत्सव का परिनिष्ठित रूप था । लेकिन परिनिष्ठित स्वरूप में भी कुछ दोष अपने-आप रंग जाते हैं । अशोक के समय कुछ समाजों में मांस-मदिरादि का अतिरेक हो गया था, इसीलिए उसने उन्हें बंद करने की आज्ञा दी थी । जिन समाजों में हिंसा, मांस-भक्षण आदि नहीं होता था, उन्हें साधु समाज कहा जाता था । फिर भी इतना निश्चित था कि समाजों में निषेधों का पालन कम ही हो पाता था ।

देवताओं और अपदेवताओं को प्रसन्न करने के लिए लोकोत्सव होते थे । अपदेवता तो और भी महत्त्वपूर्ण थे । कार्तिक के कृष्णपक्ष की तेरस को यमदेव प्रसन्न किये जाते थे और अपमृत्यु से बचने के लिए दिये जलाये जाते थे । कार्तिक अमावस्या में भी यक्षों को प्रसन्न करने के लिए जुआ खेलकर रात-जागरण (रतजगा) करना पड़ता था । पहली को यमरात्रि और दूसरी को यक्षरात्रि कहते थे । नाग की पूजा भी इसी कारण होती थी । जातकों की कथाओं में नागकथाएँ भरी पड़ी हैं । जिस तरह कृष्ण ने कालियनाग को नाथकर नागनथैया का विरुद धारण किया था, उसी तरह बुद्ध ने कई नागों को वश में करने के बाद अपने धर्म का प्रसार सफलतापूर्वक किया ता । **नागमह**इ स समय तक बहुत लोकप्रिय हो चुके थे । **शक्तिमह** की परम्परा में देवी विन्ध्यवासिनी उत्सव भी काफी प्राचीन ता । महाभारत-काल में देवी की प्रसिद्धि हो चुकी थी । युधिष्ठिर ने विन्ध्य पर्वत पर उनका निवास-स्थान बताया था (४/६/१७) । इस तरह विन्ध्यवासिनी और दुर्गा की एकता प्रतिष्ठित की गयी थी । विन्ध्यवासिनी का उत्सव चैत्र के शुक्ल पक्ष में होता था । यह निश्चित है कि पहले देवी अपदेवी थीं, बाद में देवी का स्वरूप धीरे-धीरे बना । चण्डिका पर विचार करते समय इस पर विस्तार से प्रकाश डाला जाएगा ।

वैदिक देवत्व से प्रभावित **इन्द्रमह** भी लोकप्रचलन में था । यह भादों या क्वाँर में मनाया जाता था, सरोवर जल से भरे हों और धरती हरीतिमा से ढकी हो । बीस-इक्कीस हाथ लम्बा स्तम्भ सजा-धजाकर डोरियों के सहारे खड़ा किया

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

जाता था, जिसके शिखर पर श्वेत छत्र रहता था । उसके कई हिस्सों में ध्वज लहरते रहते थे । यह उत्सव कई दिनों तक इच्छानुसार चलता था । रात में नृत्य, गीत, नाटक, जुआ और मल्ल-युद्ध होते थे । रात्रि-जागरण भी महत्त्व रखता ता । दूसरे तरह का देवत्त्व वासुदेव कृष्ण का था, जो महाभारत-काल में इन्द्र से भी अधिक प्रभावशली हो चुका था और जिनकी वजह से **गिरिमह** और गोवर्धन उत्सव लोकोत्सव बन चुके थे । वैदिक और अवैदिक देवत्व-दोनों के प्रभाव से लोकोत्सवों में सामंजस्य की स्थिति शुरू हो गयी थी ।इ स समझौते की मानसिकता से अलग आदिवासियों के परम्परित लोकोत्सव थे । उदाहरण के लिए, शाबरोत्सव प्रचलित था, जिसमें लोग अपने शरीर और मुख में कीचड़, गोबर आदि लपेट कर अंड-बंड बकते हैं और अश्लील क्रियाओं की चिन्ता न करते हुए नृत्यगीत में खो जाते हैं । फिर भी उनमें बदलाव का पुण्य नक्षत्र आता है और तब किसी नयेपन का अवतरण होता है ।

नाग-वाकाटक काल

नाग-काल में पवायाँ (पद्मावती) यक्ष-पूजा का प्रमुख केन्द्र था । वहाँ के एक खेत में प्राप्त मानवाकार माणिभद्र यक्ष की मूर्ति और उसकी चरण-चौकी पर अंकित अभिलेख से सिद्ध है कि यक्ष-उपासना लोकप्रचलित थी । यक्षों के चैत्य बनाने की प्रथा भी थी, पर अधिकतर उनके चबूतरे ही मिलते हैं । इस अंचल में 'गाँव-गाँव कौ ठाकुर, गाँव-गाँव कौ बीर' की उक्तित प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रही है । बेसनगर (विदिशा) में वेत्रवती और बेस नदियों के संगम से १२ फुटऊँ ची यक्षमूर्ति मिली है । इसी तरह भरहुत में वेदिका-स्तम्भों पर यक्षों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं । लेकिन यक्षों के चबूतरे ही उनकी व्यापक लोकप्रियता के प्रमाण हैं । स्पष्ट है कि **यक्षमह** का आयोजन प्रमुख था ।

यक्ष के लिए 'बीर' का प्रयोग शक्तिसम्पन्न के अर्थ में किया गया है । यक्ष 'इन्द्र' की समकक्षता में खड़े हुए थे । अंतर इतना था कि इन्द्र वैदिक देवता थे, जबकि यक्ष अपदेवता थे और उनका संबंध अनार्य जातियों से था । यक्ष ने अपनी शारीरिक और बौद्धिक शक्ति द्वाराइ न्द्र को पराभूत कर दिया था । इसी वजह से 'इन्द्रध्वज' का प्रचलन कम हो गया था । हनुमानजी को 'महाबीर' कहा जाता है, जिससे वे महान् बीर (यक्ष) सिद्ध होते हैं । उनके शरीर के महाकार से ही नहीं, उनके रूप बदलने के चमत्कार और अपरिमित शक्ति से वे यक्ष प्रतीत होते हैं । वे पहले अनार्य अपदेवता ही थे, बाद में राम के सान्निध्य में आर्य देवता बन गये थे । इस प्रकार आर्य और अनार्य देवत्व के सामंजस्य से एक ऐसे देवता का उदय हुआ, जो शक्ति और भक्ति-दोनों में अपराजेय था । ऐसे देवत्व की प्रतिष्ठा, पूजा और लोकप्रियता हमेशा आवश्यक बनी रही और उसे केन्द्र में रखकर लोकोत्सव होते रहे ।

भारशिवों और वाकाटकों ने शिव को आराध्य माना था । उनके सभी कार्यों के संचालक शिव थे । खासतौर से संहारकर्ता शिव, जो विदेशी आक्रमणकारियों से रक्षा करने में समर्थ थे । शिव से संबंधित गंगा, गोमाता और वृषभ भी पूज्य बन गये थे । भुमरा और नचना में शिव और पार्वती के मंदिरों का निर्माण और उनमें गंगादि शिव-परिकर की मूर्तियों की प्रधानता से शिव के प्रभाव की व्यापकता सिद्ध होती है । नागों के सिक्कों पर नन्दी और गंगा की मूर्तियाँ यदा-कदा मिलती हैं । वाकाटकों का साम्राज्य-चिन्ह गंगा था । उनके योद्धा शिव-भैरव को सहायक रूप में महत्त्व देते थे-हूणों के आक्रमणों के विरुद्ध लड़नेवालों को प्रेरणा देने के लिए । शायद इसीलिए गणेश और स्कंद को भी आस्था का केन्द्र बनाया गया था । दोनों विध्नकर्ता अपदेवता थे । गणेश विनायक के रूप में विध्नों और बाधाओं को खड़ा करते थे और

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

स्कंद पिशाच के रूप में उपद्रव करते और शिशुओं का मांस खाते थे । बाद में दोनों देवत्व को प्राप्त हुए । उदयगिरि (विदिशा) की गुफा, और देवगढ़ (ललितपुर जिला) के दशावतार मंदिर में गणेश की मूर्तियाँ विद्यमान हैं । भूमरा के शिवमंदिर के मलबे से गणेश की दो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं । बानपुर में बाईस भुजाओं वाली मूर्ति से शक्तिसम्पन्न गणेश का अभिप्राय मिलता है ।इ न सब प्रमाणों से इस क्षेत्र में गणेश-पूजा और गणेशव्रत का प्रचलन सिद्ध हो जाता है । स्कंद या कार्तिकेय तो देवसेना के सेनापति के रूप में सम्मान पा जाते हैं, पर उनका यह रूप लोक में स्वीकार्य नहीं हो पाया । लोक तो अपनी समस्याएँ देखता है, उसे देवताओं की समस्याओं से क्या मतलब । स्कंद की पूजाइ सलिए शुरू हुई कि वह शिशुओं का मांस न खाए । दूसरे, पिशाच रूप में स्कंद और मातृदेवियों के घनिष्ठ संबंध की कई कथाएँ महाभारत-काल से प्रचलित थीं । इस तरह लोक में कुमार (स्कंद) की पूजा होना एक अलग अभिप्राय से संबद्ध रहा है ।

स्कंद द्वारा मान्य मातृकाएँ दो तरह की थीं-कुछ शिव और कुछ अशिव । डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने अशिव मातृकाओं में शीतवती, पूतना, मुखमण्डिका, जातहारिणी, बहुपुत्रिका और हारीती की चर्चा की है । हारीती राजगृह की लोकदेवी थी, जो बच्चों को अपहृत कर खा जाती थी । भगवान् बुद्ध ने उसके पुत्र को छिपा लिया, जिससे हारीती को पीड़ा हुई । ऐसी स्थिति में बुद्ध ने उसे समझाया और उसका मन ऐसा बदला कि वह बच्चों की रक्षक बन गयी । वस्तुतः यह कथा मन के परिवर्तन का अभिप्राय प्रसुतुत करती है और अपदेवत्व के मनोविज्ञान को स्पष्ट करती है । फिर मूर्तिकला में अपदेवी के साथ हँसते-खेलते बच्चों का अंकन होने लगा और उस अभिप्राय को 'कुमारक्रीड़ितक' कहा गया । कुमार-क्रीड़ा का अंकन भूमरा के शिवमंदिर की जगती के शिलापट्टों पर हुआ है, जिससे स्पष्ट है कि इस अंचल में भी यह अभिप्राय और इससे बुनी कोई कथा लोक में प्रचलित थी । बच्चा पैदा होने पर छठ को छठी (षष्ठी) का 'हाँतो' (थापा) लगना ही इसी अभिप्राय की कथा का अवशिष्ट है । 'बीजासेन' की पूजा भी इसीलिए शुरू हुई और 'स्क्कस' बाबा की भी । नौरता का 'सुआटा' नामक दानव, राक्षस या भूत की पूजा भी इसी का फल है । ये मातृगण (स्त्रीगण) और पुरुषगण सब स्कंद के रौद्र रूप के गण हैं । अतएव स्कंदमह के लोकप्रिय होने से उससे बहुत छोटे-छोटे घटस फूटकर अलग होते गये और लोकभक्ति एवं लोकोत्सव का अंग बनते गये ।

इतिहासकार काशीप्रसाद जायसवाल ने भारशिव राजाओं के कलकत्ता संग्रहालय में सुरक्षित कुछ सिक्कों की चर्चा अपनी पुस्तक 'अंधकारयुगीन भारत' में की है । क्रमांक ८, १०, ११, १२, में कठघरे के अंदर एक वृक्ष दर्शाया गया है, जिससे चैत्यवृक्ष और वृक्षमह दोनों के प्रमाण मिल जाते हैं । कई सिक्कों पर सर्प के चिह्न अंकित हैं, जिससे नाग-पूजा और नागमह के प्रचलन का पता चलता है । सिक्कों से ऐसी कई बातों का पता चलता है, जो लोकसंस्कृति से संबंधित होती हैं और जिन्हेंइ तिहासकार नहीं समझ पाते । उदाहरण के लिए, सिक्का क्र. १० में शेर के ऊपर सूर्य-चन्द्र बने हैं। यह अभिप्राय बुंदेली लोकचित्रों और लोकमूर्तियों का है, जो चरज नाग के राज्यकाल (२६०-९० इ.) में प्रचलित था । सती-स्तम्भ में उत्कीर्ण सूर्य-चन्द्र से गलत अर्थ लगाकर हेमवती और चन्द्रमा से चंदेलों का जन्म मान लिया गया है । भूमरा के शिवमंदिर में सूर्य की मूर्ति उँकेरी गयी है । ग्वालियर में सूर्य मंदिर था। पवाया (पद्मावती) में सूर्य-स्तम्भ शीर्ष की खोज हो चुकी है । इन सबसे इस काल में सूर्य-पूजा का प्रमाण मिल जाता है । नाग और वाकाटक-दोनों विष्णुपरक भी थे । पवाया के विष्णुमंदिर, उदयगिरि और एरण के वाराहावतार में विष्णु द्वारा धरणी के उद्धार आदि से विष्णु-पूजा का प्रचलन स्वयंसिद्ध है । इन दोनों उदाहरणों से एक समन्वयकारी धर्म-साधना के समारम्भ का पता चलता है, जिसका असर यहाँ की लोकोत्सवी मानसिकता पर भी पड़ा था, क्योंकि धार्मिक लोकोत्सवों में धार्मिक सहिष्णुता जरूरी थी ।

शिव की प्रधानता से शक्ति-पूजा का प्रभाव स्वाभाविक है । नचना का पार्वती मंदिर, उदयगिरि और भुमरा में दुर्गा की मूर्तियाँ तथा विन्ध्यवासिनी और लक्ष्मी के अभिनव उत्थान से भी एक समन्वित शक्ति-पूजन का उदय होता है, जो

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

तत्कालीन विदेशी संस्कृति के आक्रमण के विरुद्ध एक आवश्यक उपादान था । पहले थी शबरों और पुलिंदों (आदिवासियों) की देवी, फिर भवानी और पाशुपति का युग्म प्रचलित हुआ । भूदेवी या भुइयाँरानी जुड़ीं। शिव के साथ शक्ति और पार्वती आयीं, लेकिन दुर्ग असुर को पछाड़कर दुर्गा बनीं और फिर शक्ति के रौद्र रूप में महाकाली, महासरस्वती एवं महालक्ष्मी उदित हुईं । सबका केन्द्र शिव की संगिनी शक्ति थीं । 'विन्ध्ये तब स्थानम्' से इस अंचल की महत्ता बढ़ी और नवरात्रि का व्रत यहीं से प्रारम्भ हुआ

मदनोत्सव का प्रारम्भ इसी काल में हुआ था । उसे कामसूत्र में 'सुवसंतक' कहा गया है । मूल रूप में यह ऋतु का उत्सव 'ऋतूत्सव' था, जो वसन्त ऋतु के आगमन पर होता था। ऋतु की अगवानी में पुरुष और स्त्रियाँ गीत-नृत्य करते थे । पुराणों ने 'काम' की पूजा को महत्त्व दिया, अतएव यह 'मदनोत्सव' हो गया । घर में 'काम' की पूजा आम के और टेसू के फूल से की जाती थी और बाहर आयु, रंग एवलं जाति के भेद-भाव को भुलाकर एक-दूसरे से प्रेम दर्शाते और मिलते-जुलते थे । मर्यादाओं को भुलाकर आमोद-प्रमोद में लीन हो जाते थे। कामसूत्र में होलाक नाम के एक उत्सव का उल्लेख है, जिसमें टेसू के फूलों से बना रंग एक-दूसरे पर डालने की प्रथा थी । इसी तरह कार्तिक की तेरस को दीप-दान के बाद अमावस्या को सुरापान और जुआ-क्रीड़ा की छूट थी। लक्ष्मी-पूजन इसी काल से प्रारम्भ हुआ, पर इस अंचल में उसका कोई प्रामाणिक साक्ष्य नहीं मिलता। देवगढ़ के दशावतार मंदिर में विष्णु के चरण चापती लक्ष्मी उत्कीर्ण है, जिससे यह कहना ठीक है कि इस अंचल में विष्णु और लक्ष्मी की भक्ति का प्रसार हो रहा था । कौमुदी जागर अब कौमुदी-उत्सव के रूप में मान्य हो चुका था, जिसका प्रमाण संस्कृत नाटक में मिलता है ('कौमुदी-महोत्सव' नाटक, रचना-काल ३४० ई०)।

उत्सवी सभाएँ भी आयोजित की जाती थीं, जिन्हें उत्सव, समाज और विहार कहा जाता था । इनमें आमोद-प्रमोद के साथ-साथ सहभोज और सुरापान होता था । राजा या समाज का मुखिया उनका आयोजन समय-समय पर करता था । उनमें स्थानीय और बाहर से आये कलाकार भाग लेते थे । गीत, नृत्य और नाटक होते थे । समाज के लिए या तो समाजवाट नाम से स्थायी भवन थे या देवमंदिर।

इस काल में अनुष्ठान और व्रत प्रमुख महत्त्व पा चुके थे । शिव और शिव-परिकर से जुड़े व्रत और उपवास प्रारम्भ हो चुके थे । व्रत प्रमुख रूप में दो प्रकार के थे । एक वे, जो त्योहारों पर अनिवार्य-से थे और दूसरे वे, जो मनौती के रूप में किये जाते थे। शिव और शक्ति से संबद्ध व्रतों में शिवरात्रि और नवरात्रि के व्रत-अनुष्ठान ही थे । गो-सेवा का व्रत भी तत्कालीन जीवन का प्रमुख अंग हो चुका था । लक्ष्मी-पूजन के दिन उपवास किया जाता था । मनौती के रूप में स्त्रियाँ पति के रूठने या परदेश जाने पर व्रत करती थीं। पहले को **प्रियप्रसादन** और दूसरे को **काकबलि** कहा गया है । नाग और उनकी प्रजा योद्धा शिव की आराधना में कठोर व्रत करती थी। एक ही शय्या पर पत्नी के साथ सोकर ब्रह्मचर्य का पालन असिधाराव्रत-सा कठोर था। अन्य व्रत भी प्रचलित थे, पर उनका साक्ष्य उपलब्ध नहीं है ।

पौराणिक काल

तीसरी-चौथी शती से पुराण-लेखन प्रारम्भ हुआ और आठवीं-नवीं तक निरंतर चलता रहा, इसलिए इसे पौराणिक काल कहना सर्वथा उचित है। यद्यपि इस दीर्घ काल में गुप्तों का स्वर्ण युग, पुष्यभूतियों का धर्म युग और शक-हूणों के

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

आक्रमण, सब कुछ समा जाता है, तथापि पुराण-इतिहास में सबका लेखा-जोखा है। दूसरे, पुराणों ने लोक को पुनः संस्कारित कर समन्वय स्थापित करने का महत्कार्य किया है । लोकजीवन में जो सिद्धांततः और व्यवहारतः सत्य है, उसे धर्म, धार्मिक क्रियाओं, व्रत एवं त्योहारों में आत्मसात् करने का काम इतनी कुशलता से हुआ है कि उसकी बराबरी करना बहुत मुश्किल है। विदेशी आक्रमणकारी संस्कृतियों के विरुद्ध भारतीय संस्कृति की रक्षा करने का व्रत हर भारतीय पुरुष और स्त्री ने ले लिया था । इस सांस्कृतिक संघर्ष के अस्त्र थे-पुराण, जिन्होंने एक तरफ देवताओं और उनके सम्प्रदायों में सामंजस्य बैठाया था और दूसरी तरफ विभिन्न सांस्कृतिक समवायों में एकता स्थापित कर दी थी। व्रत और त्योहारों का ऐसा ताना-बाना गूँथा गया कि उसमें नाना प्रकार के देवी-देवता अपने-आप फिट हो गये और पारिवारिक एवं सामाजिक विशेषक (च्द्धद्दत्द्यद्म) भी उनके साथ जुड़ गये । कुछ इस तरह कि हर व्रत और त्योहार अपनी पहचान अलग बनाये रख सका । इस प्रकार व्रत और त्योहार सामाजिक एवं सांस्कृतिक ढाँचे के प्रमुख अंग बन गये । भले ही वे लौकिक या धार्मिक प्रकृति के रहे हों, पर लोक की सामाजिकता उनकी अनिवार्यता रही है । जब कोई भी लोकोत्सव सामाजिक भूमि से हटा है, तब वह कर्मकांड का प्रदर्शनमात्र रह गया है । इस वजह से लोकोत्सव को गतिशील सामाजिकता के साथ चलना पड़ा है । लोकोत्सवों को ऐसा लचीला और गतिशील गठन देने का काम पुराणों ने ही किया है और यह उनकी विशिष्ट उपलब्धि मानी जाएगी।

पुराणों ने वृक्ष, पर्वत, नदी, भूत-प्रेतादि की पूजा को उचित महत्त्व देकर उसका विस्तृत विधान बना दिया था, जिससे गौण होते उत्सवों को पुनः प्रतिष्ठा मिली । उदाहरण के लिए, स्कंद पुराण में पीपल-पूजा को अधिक मान्यता दी गयी और उसकी विधि निर्धारित की गयी, पर तुलसी, बेल, बरगद, पलाश आदि प्रमुख वृक्षों को पूजने के विर्देश भी दिये गए । वस्तुतः पुराणों ने पुराने **वृक्षमह** जैसे लोकोत्सवों को किसी-न-किसी धार्मिकता या देवता से जोड़कर उनकी मूल प्रकृति में परिवर्तन कर दिया था । हरिवंश पुराण में गोवर्धन महोत्सव को **गिरिमह** की तरह मनाने का पूरा विवरण दिया है, पर उसमें गाय, बैल, बछड़ों को अधिक महत्त्व प्रदान किया, जिससे गोमाता ही प्रधान होती गयीं और गिरि एक उपयोगी माध्यम की तरह जुड़े रहे।

नागमह और **भतोत्सव** जैसे लोकोत्सव पुराणों में अपने वास्तविक रूप में अंकित हुए हैं । उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया । स्कंद पुराण में सावन के शुक्लपक्ष की पंचमी को नाग पूजने से इच्छित मनोकामना की पूर्ति का निर्देश है । नारद पुराण में नाग के डँसने से बचने के लिए **नाग-व्रत** करने का विधान है । नागों को दूध पिलाने के लिए भी कहा गया है। भविष्य पुराण के अनुसार यह उत्सव मल्ल-युद्ध और नृत्य-गीत के आयोजन के साथ मनाया जाता था। उसमें महोबा जैसे नगरों में यह लोकोत्सव इसी रूप में होने का उल्लेख भी है। भविष्य पुराण में भूतोत्सव का विवरण भी दिया गया है। यह उत्सव इतने उत्साह और आनंद से मनाया जाता था कि लोग पागल जैसे आचरण करने लगते थे । अंड-बंड बकना और अशिष्ट-अमर्यादित हाव-भाव प्रदर्शित करना भले ही अनुचित हो, पर पुराणों ने उन्हें मान्यता दे दी थी। भविष्य पुराण में इसी अंचल के उत्सवों का विवरण महत्त्वपूर्ण साक्ष्य सिद्ध होता है।

कुछ प्रमुख व्रत और त्यौहार ऐसे थे, जो पुराणों के विधान और निर्देश पर संस्कारित हुए और नये समन्वय के साथ नये रूप में उभर कर लोक में मान्य हो गये। इनमें मदनोत्सव, होली, नवरात्रि और दीवाली उलेलेखनीय हैं। **मदनोत्सव** में ऋतूत्सव और काम-पूजा-दोनों का समन्वय हो चुका था। गरुड़ पुराण में मदन-त्रयोदशी का **व्रत** साल-भर रखने और हर माह शिवजी के अलग-अलग रूप का पूजन करने का निर्देशा है। व्रत की समाप्ति पर रति और काम की पूजा तथा नृत्य-गीत करते हुए रात्रि-जागरण को महत्त्व दिया गया है। यह व्रत अगहन की अनंग त्रयोदशी से कार्तिक की मदन त्रयोदशी तक हो। भविष्य पुराण में वसंत ऋतु की शुक्ला त्रयोदशी को उत्सव का आयोजन काम और रति की

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

सिन्दूरांकित चित्रों के पूजन से प्रारम्भ करने के लिए कहा गया है । दिन में सहभोज और रात्रि में नृत्य, गीत एवं अभिनय आदि का निर्देश है । कामदेव के मंदिर को दीपावलियों से सजाने का सुझाव दिया गया है । इसे **चैत्रोत्सव** नाम से भी अभिहित किया गया है । हर्ष काल में इसे चैतमास की पूर्णिमा को मनाया जाता था और इसे **वसंतोत्सव** कहते थे।

होली के लोकोत्सव की विधि-व्यवस्था बहुत कुछ पुराणों की देन है। नारद पुराण में फागुन की पूर्णिमा को होलिका-पूजन निर्धारित किया गया है। उसके अनुसार सब तरफ से जोड़ी गयी लकड़ियों के ढेर में आग लगाकर उसकी परिक्रमा तीन बार करनी चाहिए। इसके हेतु के लिए एक कथा जोड़ दी गयी है, जिसके अनुसार भक्त प्रह्लाद को भयभीत करने के लिए होलिका नाम की राक्षसी को जलाया गया था। इसी प्रथा का अनुसरण होने लगा । कुछ विद्वानों ने होलिका जलने का अर्थ काम-प्रवृत्ति के दहन से लगाया है। भविष्य पुराण के अनुसार बच्चों को खानेवाली ढोंढ़ा नामक राक्षसी का वध करने के बाद यह उत्सव मनाया गया था। शीत के अंत और ग्रीष्म के प्रारम्भ में यह उत्सव नृत्य-गीत और हास्य-उल्लास के साथ होना चाहिए। बोलने में स्वच्छंदता रहे और मर्यादा का विशेष बंधन न हो। फागुन की पूर्णिमा को होम करने से आधियों-व्याधियों और दुःखों का नाश होता है। इस पर्व का नाम होलिकाइ सीलिए पड़ा है। पुराणकार ने अनेक प्रकार के रंग, अबीर, गुलाल का उपयोग करने के लिए संकेत दिया है।

दिवाली त्यौहार मनाने का विधान पद्म पुराण (४ थी शती) और स्कंदपुराण (६ठी शती) में मिलता है। कार्तिक के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी यमराज को प्रसन्न करने के लिए दीपबलि देकर मनायी जाती है। चतुर्दशी से प्रतिपदा तक तीन दिन दैत्यराज बलि का शासन चलता है, उन्हें प्रसन्न करने के लिए दीपदान करने का निर्देश है। अमावस्या को दिन भर व्रत और संध्या को लक्ष्मी-पूजन करने का विधान है। भरहुत स्तूप की गजलक्ष्मी से स्पष्ट है किइ स अंचल में लक्ष्मी का पूजन बहुत प्राचीन है । अलक्ष्मी को घर से बहिष्कृत करने के लिए रात को स्त्रियाँ सूप बजाकर मार्ग पर घूमती और घोषणा-सी करती हैं। रातभर जागरण के लिए जुआ खेलने और गीत-नृत्य करने का निर्देश है। प्रतिपदा के प्रातः गोवर्धन-पूजा, बाद में अन्नकूट और गो-क्रीड़ा का प्रावधान रखा गया है । रात को दीपदान और जुआ-क्रीड़ा की स्वच्छंदता है। रात्रि-जागरण में गीत-नृत्य की उल्लसित मानसिकता को महत्त्व दिया गया है। अगले दिन यम-द्वितीया और भाई-दूज मनायी जाती है, जिसमें भाई अपनी बहन के घर भोजन करता है। इसी दिन यम ने अपनी बहन यमुना के यहाँ भोजन किया था और बहन को कपड़े-गहने आदि दिये थे। इसी का अनुसरण हर भाई को करना अभीष्ट है।

पौराणिक काल शक्ति-उपासना का उत्कर्ष-काल है। वैसे तो शक्ति-पूजा सबसे पुरानी है, पर पुराणों ने देवी दुर्गा को इतना सशक्त बना दिया कि वे महिषासुर, चण्ड-मुण्ड, शुंभ-निशुंभ, रक्तबीज जैसे दैत्यों या असुरों का विनाश कर सर्वोच्च आसन पर बैठ सकीं। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार महिषासुरमर्दिनी देवी शिव, विष्णु और ब्रह्मा के तेज से मिलकर बनी थीं। 'दुर्गासप्तशती' में शक्ति की व्यापकता और महत्ता के दर्शन होते हैं। उनके तीन रूप हैं-महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। दुर्गा मूलतः पार्वती (शिव की शक्ति) का ही रूप है। पुराणों ने विभिन्न कथाओं का सृजन कर यह स्पष्ट किया है कि पार्वती दुर्गा कैसे बनी। वामन पुराण में बताया गया है कि देवों के तेजांशों से बनी कात्यायिनी विन्ध्य पर्वत पर महिषासुर से लड़ी थीं। मार्कण्डेय पुराण में दुर्गा के दस अवतारों का वर्णन है। स्कंदपुराण का लेख है कि दुर्ग असुर से युद्ध करते समय दुरागा ने विन्ध्याचल को अपना मुख्यवास बनाया था। इन साक्ष्यों तथा विन्ध्यवासिनी देवी की लोकप्रियता से स्पष्ट है कि इस अंचल में शक्ति का प्रभाव सबसे पहले आया। 'हर्षचरित' एवं 'कादम्बरी' के विन्ध्याटवी गाँव के वर्णन में चामुण्डा देवी के मंदिर और विग्रह का विवरण, कपड़े की पट्टी पर लिखा दुर्गा-स्तोत्र इस बात का प्रमाण है कि यह क्षेत्र शक्ति-क्षेत्र था । यहाँ की दुर्गा-पूजा और नवरात्रि का लोकोत्सव विशेष महत्त्व का था। नारद पुराण में क्वाँर के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से नवमी तक **नवरात्रि-उत्सव** मनाने का निर्देश दिया गया है। नौ दिन घट स्थापित

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

कर उसके चारों ओर जौ और गेहूँ बोना चाहिए और प्रतिदिन पूजा करनी चाहिए। मार्कण्डेय पुराण में दुर्गासप्तशती का पाट और कुमारी-पूजन करने के लिए कहा गया है। महानवमी की रात को शस्त्रास्त्र, अश्व, गो आदि पूजने और देवी को भैंसे की बलि चढ़ाने का विधान बताया गया है। विजयादशमी को अपने राज्य की सीमा से बाहर जाकर शत्रु या नकली शत्रु को पराभूत करने हेतु यात्रा करने का निर्देश दिया गया है। भविष्य पुराण में अष्टमी को देवी की अर्चा और आषाढ़ या सावन की शुक्ल अष्टमी को चण्डिका-पूजा करने का सुझाव है। वैवर्त्त पुराण में गृहदेवी और ग्रामदेवी की प्रतिष्ठा हुई है। गृहदेवी जहाँ एक घर की हैं, ग्रामदेवी वहाँ गाँव भर की हैं।

देवी भागवत ने **नवरात्रि-व्रत** के उद्देश्य और कारण पर विचार किया है। उसके अनुसार इस व्रत से इच्छित फल, धन, स्वास्थ्य, विद्या, सुपूत आदि की प्राप्ति होती है। साथ में एक वैज्ञानिक कारण दर्शाते हुए कहा गया है कि शरद और वसन्त, दोनों ऋतुओं में अनेक बीमारियाँ फैलती हैं, उनसे बचने के लिए नवरात्रि व्रत का पालन करना जरूरी है। बाण और कुमारदास ने 'कादम्बरी' और 'जानकीहरण' में शैवों के महाव्रती सम्प्रदाय का संकेत किया है। बाणकृत 'हर्षचरित' में नवरात्रि की नवमी को होने वाले जवारे-उत्सव का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार स्त्रियाँ घड़ों (चौड़े मुँह के) में मिट्टी डालकर जौ बोती हैं और उन्हें सींचती रहती हैं। घड़े अँधेरी कोठरी में रखे रहते हैं। नौवें दिन उन्हीं घड़ों को सिर पर रखकर जुलूस के रूप में ले जाते हैं। नृत्य-गान के साथ उत्सव-यात्रा चलती है। दशहरा को जवारे एक-दूसरे को बाँटते और कान में लगाते हैं। इसे लोक द्वारा मांगलिक माना जाता है।

नवरात्रि के व्रत को रामकथा से जोड़ने का श्रेय भी पुराणों-उपपुराणों को है। महानवमी को रावण-बध हुआ था और दशमी को विजयोत्सव हुआ था, जिसके अनुसरण में दशहरा या विजयादशमी का उत्सव मनाया जाता है। राम ने अष्टमी तक देवी की आराधना की थी और उन्हीं से शक्ति पाकर रावण पर विजय पायी थी।इ सीलिए दशमी को देवी की मूर्ति जुलूस के रूप में निकालते हैं। पौराणिक युग में महालक्ष्मी, सरस्वती, गणेश, शिव, सूर्य, महावीर आदि देवी-देवताओं के व्रतादि की विधियाँ भी ननिश्चित की गयी थीं। सप्तमातृकाओं का पूजन भी बहुत लोकप्रिय था। उनका रूपांकन एक ही पट्टिका पर किया जाता था। इस अंचल के शिलापट्टों, कपड़ा के फरकों, भित्तियों पर उनका अंकन नीचे तक छहरने वाले घाँघरों से पहचाना जा सकता है। भले ही वे प्रमुख देवताओं की पत्नियाँ-रूपा रही हों, पर लोक ने तो उन्हें लोकदेवियों के रूप में ही स्वीकारा है। अन्य लोकोत्सवों के संबंध में पुराणों ने अपनी मान्यताएँ दी हैं, पर उतने विस्तार के लिए यहाँ अवकाश नहीं है।

चंदेल काल

इस जनपद का यह युग यानी कि ८वीं से १४वीं शती तक का कालखंड सुख, शांति और समृद्धि का युग था। इसलिए यहाँ एक ओर लोकसंस्कृति का उत्कर्ष हुआ और दूसरी ओर लोकसाहित्य एवं लोककला का। चंदेल भुक्ति और मुक्ति के समन्वय में आस्था रखते थे। यही वजह थी कि वे लोकोत्सवों को प्रोत्साहन देने में अग्रणी रहे। प्रमाण के लिए दो उदाहरण सामने हैं। एक तो यह कि चंदेलों की राजधानी महोबा का नाम लोकोत्सवों की अधिकता के कारण महोत्सवनगर था। दूसरे, चंदेलनरेश मदनवर्मन के राज्यकाल में वसन्तोत्सव का विवरण जिन मण्डन के 'कुमारपाल प्रबंध' में मिलता है। वसन्त और आन्दोलक रागों के गीत, दिव्य श्रृंगार में सजी स्त्रियाँ, आमोद-प्रमोद में मस्त आकर्षक युवक, मार्ग पर कपूर, अगुरु, कस्तूरी, कुंकुम, चंदन आदि सुगन्धित द्रव्यों का छिड़काव, प्रत्येक भवन में संगीत, हर मंदिर में

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

देव-पूजन। घर-घर में सुंदर पकवान्। भोजन के बाद तम्बूल-सेवन। कपूर के चूर्ण से धूलिपर्वोत्सव। इस वर्णन से चंदेल काल की उत्सवी चेतना के दर्शन होते हैं। और फिर यह वर्णन गुजरातनरेश सिद्धराज के सुयोग्य मंत्री का था, जिसे शत्रु की गतिविधि जानने के लिये भेजा गया था।

चंदेलनरेश परमर्दिदेव के राज्यकाल में दिल्ली-सम्राट पृथ्वीराज चौहान ने महोबावासियों को रक्षाबंधन के पहले ही घेर लिया था। 'आल्हा' लोकगाथा से सही इतिहास का पता चलता है कि महारानी मल्हनादे ने कन्नौज में वास कर रहे आल्हा-ऊदल को लोककवि जगनिक द्वारा संदेश भेजा था और देवलदे (आल्हा-ऊदल की माता) से रक्षा की विनती की थी। जब रक्षाबंधन तक आल्हा-ऊदल नहीं आए, तब विवश होकर दूसरे दिन किले से सात सौ डोले निकल पड़े। एक-एक कजरियों का दोना और एक-एक तलवार रखे हुए। पीछे से आती चंदेली फौज। भयंकर युद्ध, और कजरियाँ कीर्तिसागर के किनारे रुकी रहीं। अचानक योगी वेश में आल्हा-ऊदल और उनकी सेना युद्ध करने लगी। कजरियाँ तालाब में खोंटी गयीं। बहन चन्द्रावली ने उन्हें ऊदल भैया की पाग में खोंस दीं।इ सी इतिहास को सुरक्षित रखने के लिए यह **कृषिपरक उत्सव** बहन-भाई के पवित्र प्रेम का प्रतीक बन गया। इस तरह इस युग में इस लोकोत्सव ने एक महत्त्वपूर्ण मोड़ ले लिया।

स्कंदपुराण (७वीं शती के लगभग) में जगन्नाथ जी की रथयात्रा का विशद वर्णन मिलता है। चीनी यात्री फाहियान ने भगवान बुद्ध की रथयात्रा का वर्णन किया था। आशय यह है कि पौराणिक युग में **यात्रा-महोत्सव** का आरम्भ हो गया था। इस प्रकार के लोकोत्सवों का उत्कर्ष चंदेलकाल में दिखाई पड़ता है। भवभूति (८वीं शती) के 'महावीरचरित', 'मालती-माधव' और 'उत्तररामचरित' नाटकों की प्रस्तावना से स्पष्ट है कि उनका मंचन भगवान् कालप्रियनाथयात्रा के महोत्सव में हुआ था। इस महोत्सव का अवशेष कालपी का सूर्य-मेला है, जिसे आज भी जात्रा कहा जाता है। चंदेलनरेश परमर्दिदेव के अमात्य और प्रसिद्ध नाटककार वत्सराज के 'कर्पूरचरित भाण' और 'हास्यचूड़ामणि' प्रहसन के प्रारम्भ में ही नीलकण्ठयात्रामहोत्सव का उल्लेख आता है। 'रुक्मिणीहरण' में चक्रस्वामि यात्रा पर अभिनय किये जाने का प्रमाण है। 'रूपकषटकम्' से यह सिद्ध होता है कि देव-विशेष की जन्मतिथि पर या विशिष्ट अवसरों पर महोत्सव होते थे। माणिभद्र की पूजा उत्सव मनाकर की जाती थी, जिसका साक्ष्य 'कर्पूरचरित' और 'हास्यचूड़ामणि' में प्राप्त है। 'रूपकषटकम्' में शिव द्वारा कृष्ण के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, जिससे कृष्ण-संबंधी उत्सवों का पता चलता है। 'रूपकषटकम्' (पृ. १२३) में **मदिरामहोत्सव** का उल्लेख पुराने 'सुरापानन‌क्खत्त' की याद दिलाता है।

खजुराहो के संवत् १०११ के शिलालेख से प्रकट है कि जब विष्णु मंदिर की प्रतिष्ठा हुई थी, तब महोत्सव सम्पन्न हुए थे और उनमें देवताओं ने भी भाग लिया था (एपिग्रेफिया इंडिका, प्रथम, पृ. १२९)। इसका अर्थ यह है कि देव-विग्रहों की प्रतिष्ठा के उपलक्ष्य में महोत्सवों का आयोजन होता था। खजुराहो मंदिर की मूर्तियों में लोकजीवन उभरा है, अतएव उनमें लोकोत्सवों का अंकन भी स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए, फाग के दृश्यों का अंकन विश्वनाथ मंदिर के गर्भगृह की परिक्रमा में पीछे की तरफ हुआ है, जिससे **होली महोत्सव** के लिकप्रिय होने का प्रमाण मिलता है।

इतिहासकार अल्बेरूनी ने वसंतोत्सव, महानवमी को देवी का उत्सव, दीपावली, माघ-स्नान, दोला उत्सव, शिवरात्रि आदि का उल्लेख किया है। इसी तरह उपवास के दिनों में एकादशी, जन्माष्टमी, देवशयनी एकादशी, क्वाँर की अष्टमी प्रमुख हैं, जो आज भी मान्य हैं। कुछ ऐसे दिन भी बताये थे, जो आज लुप्त हो चुके हैं। अल्बरूनी ने यह भी लिखा था कि प्रायश्चित्त करने के लिए हिन्दू व्रत रखते थे। केशवचन्द्र मिश्र ने अपनी पुस्तक 'चंदेल और उनका राजत्व-काल' में वैशाख सुदी तीज को 'कृषि वर्ष', आषाढ़ सुदी ग्यारस को देवशयन, कार्तिक सुदी ग्यारस को देवउठनी उत्सवों

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

का उल्लेख किया है, पर उसका प्रामाणिक साक्ष्य नहीं दिया। राजशेखरकृत 'काव्यमीमांसा' में महानवमी (क्वाँर) के दिन अस्त्रों का पूजन और हाथियों, घोड़ों एवं सैनिकों की सज्जा तथा दीपावली में दीप-मालाएँ रखना एवं विविध हास-विलास का संकेत है। इसी तरह चैत्र में झूला-हिंडोला, गौरी एवं काम की पूजा, नवरात्र, श्रीपंचमी एवं मदन-महोत्सव आदि अनेक व्रतों और उत्सवों उल्लेख किया गया है। महोबा में चण्डिका देवी के मंदिरों से नवरात्रि के उत्सवी प्रभाव का प्रमाण मिलता है। चंदेलनरेश शिवभक्त थे, अतएव शिवरात्रि एवं हरितालिका लोकोत्सव और व्रत की प्रधानता थी। नौरता एक सामूहिक खेल था, जिसमें गौरी की पूजा एक उत्सव का रूप धारण कर लेती है और स्कंद दानव की पूजा अपहरण एवं बालहत्या से रक्षा करती है। इस उत्सवी खेल में नवरात्रि जैसी लोकोत्सवी लहर और उद्वेलन है। हमीरपुर गजेटियर के अनुसार गहरौली में झिंझिया नाम का लोकोत्सवी मेला लगता है, जो कि नौरता का एक अंग ही है।

लोकोत्सवों में गीत-नृत्य, काव्य-गोष्ठी और नाट्याभिनय होते थे और उनके कारण ही लोकोत्सवी अनुभूति गहरी हो जाती थी। उत्सवों को स्त्रियाँ गवाक्षों से देखती थीं। उन अवसरों पर जगह-जगह मांगलिक प्रतीक अंकित किये जाते थे अथवा सजाये जाते थे। मंगल कलश, स्वस्तिक और प्रकाशमान दीपों से गृह पवित्र-सा लगता था। कमल की पंखुरियों का अंकन, गज, तुलसी या वट-वृक्ष आदि का आलेखन उत्सवी श्रृंगार के अवयव थे। इस प्रकार इस युग में लोकोत्सव बहुत महत्त्व के बन गये थे।

तोमर-काल

चंदेलों के पराभव के बाद इस अंचल का सांस्कृतिक केन्द्र गोपगिरि (ग्वालियर) बना, जो तोमरनरेशों के राज्य-काल में उत्तर भारत का प्रमुख महानगर था। इस युग में देसी संगीत, चित्रकला और शिल्प का प्रवर्तन हुआ, जिससे लोककला में ताजगी आई। लोकभाषा में प्रबंधकाव्यों की रचना हुई और संस्कृति की एकता एवं रक्षा के लिए अखाड़े जैसी संस्था का विकास हुआ। वस्तुतः यह युग संक्रांति का युग था। विदेशी संस्कृति सत्ता का सहारा लेकर अपना दबदबा कायम कर रही थी। अतएव लोकसंस्कृति अपने सभी अस्त्रों के साथ एकजुट हो रही थी। एक तरफ रामायण और महाभारत के आख्यानों से कथाकाव्य की रचना की जा रही थी, जिससे लोक में ऊर्जा की प्रेरणा हो, तो दूसरी तरफ लोकसंस्कारों, लोकोत्सवों आदि के द्वारा लोकमन को लोकसंस्कृति के संरक्षण के लिए तैयार किया जा रहा था।इ स दृष्टि से लोकोत्सवों को प्रमुख महत्त्व प्राप्त था।

इस समय वसंतोत्सव, शिवरात्रि, अखती, नागपंचमी, रक्षाबंधन, हरछठ, नवरात्रि, विजयादशमी, दीपावली, होली जैसे प्रमुख त्योहार मनाये जाते थे और आसमाई, जगन्नाथ, एकादशी, निर्जला एकादशी, देवशयनी एकादशी, शीतला माता, हरितालिका, गणेश चौथ, अनन्त चतुर्दशी, महालक्ष्मी, करवा चौथ, अहोई आठें जैसे व्रत लोकप्रचलित थे। समाज का स्थान अखाड़ों ने ले लिया था, वैसे उनका अस्तित्व कायम था। जात्राओं का भी प्रचलन था।

विष्णुदासकृत 'रामायन कथा' (१४४ ई.) और 'महाभारत' (१४३५ ई.) में संक्रांतिकाल के संकट को पहचाना गया है-'धिगु जीवन जो परबस रहै' और 'देखि द्रुवन दल छत्री भाजैं, सात पिढ़ी के पुरखा लाजैं।' 'छिताई कथा' में एक पत्नीव्रत और पतिव्रता-दोनों को महत्त्व मिला है, क्योंकि इस कालखंड में स्त्रियों के अपहरण और पुरुषों की कामुकता के उदाहरण अधिक मिलते हैं। त्योहारों के उल्लास की अपेक्षा व्रतों का अनुष्ठान अधिक उपयोगी था, इसीलिए

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

अनुष्ठानमूलक व्रत संकल्पधर्मी चेतना के अंग हो चुके थे। महाभारत में व्रत के संबंध में दो पंक्तियाँ मूल्यवान् हैं-

१. बिनसै ब्रत हीनें आहारु।
२. कै मैं कर्यो गवरि ब्रत भंगू।

दोनों का अशय व्रतों की महत्ता है, जोकि तत्कालीन समाज की अनिवार्यता बन गयी थी। असल में, त्यौहारों की खुशी की अपेक्षा व्रतों की संकल्पधर्मी जीवंतता की आवश्यकता अधिक थी। **आसमाई का व्रत** आशा का प्रतीक है। भूख, प्यास, नींद और आस में चारों अनिवार्य हैं, पर उनमें आसमाई को प्रतिष्ठित करने का अर्थ यही है कि वे भूख, प्रयास और नींद से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए पटे पर चंदन से चार पुतलियाँ लिखकर पूजी जाती हैं, लेकिन आसमाई के नाम से व्रत होता है। पक्वान्न सभी बनते हैं, पर आसें बाँटी जाती हैं। आसें भी आशा का प्रतिनिधित्व करती हैं। व्रत करने वाली १२ आसें और १२ लड्डू ही खाती हैं। १२ का अंक इस कारण महत्त्व का है कि बाराजीत (१२ कौड़ियों) की पूजा होती है। जुए में जीतने की आशा और सौभाग्य तथा संतान की आशा जहाँ व्यक्ति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थीं, वहाँ विजय की आशा समाज की दृष्टि से और भी अधिक कीमती थी। महाभारत' में क्षात्रधर्म को इसीलिए मान्यता दी गयी थी।

स्त्रियों के अपहरण के कारण व्रतों में सौभाग्य की रक्षा का संकल्प सबसे अधिक महत्त्व का हो गया था। इसी की वजह से सती-प्रथा का प्रचलन हुआ था। सती और जौहर ने एक लोकोत्सव का रूप ले लिया था। सूफी कवि जायसी ने लोकमन को पढ़कर ही लिखा था-'नाच-नाच जिउ दीजिय।' 'पत' की रक्षा का लोकमूल्य इसी से फूटा था। संतान की मंगलकामना भी इसी उद्देश्य से की जाती थी। समृद्धि की याचना लोकवृत्ति की सहज वांछा थी।

जात या जात्रा का उद्देश्य सामाजिक एकता था। किसी विशिष्ट लक्ष्य को सामने रखकर प्रयाण का संकल्प ही जात्रा या यात्रा है। 'छिताई-कथा' में 'शिव की जात्रा' (छंद ६४०) और 'जटासंकर की जात' (छंद ७७८) का उल्लेख है। नायिका छिताई निःशंक होकर स्वामी के लिए मन में 'सत्त' धारण करती हुई जाती है (अति निसंक जिय संक न धरई। स्वामि हेत सत्त मन धरई ।।६५३।। 'पत' की रक्षा के लिए 'सत्त' की साधना जरूरी थी। सत्त की साधना में जूझना पड़ता था (जूझी नार तहाँ चालीसा ।। ६८१।।)।

इस युग में लोकोत्सवों के संस्थान अखाड़े थे, जिनमें उचित अवसरों पर संगीत और कला के आयोजन होते थे। अखाड़ों में 'समाज' होती थी। अखाड़े दो प्रकार के थे-एक तो राज्य की तरफ से संचालित थे, दूसरे जनता की तरफ से। इस समय के सभी ग्रंथों में अखाड़ों का वर्णन है। यहाँ तक कहा गया है कि 'नित नब रंग अखाड़े होई। नट-नाटक आबइ सब कोई।।' अखाड़ों में भले ही नये-नये रंग भरते रहे हों, पर लोकोत्सवी सहजता मिलना कठिन था। विशिष्ट आमंत्रित समाज लोकसहजता की अपेक्षा परिनिष्ठित आस्वादन की वांछा करती थी, अतएव अखाड़ों खासतौर से राजसी अखाड़ों का लोक कुछ विशिष्ट था, जबकि लोकसंचालित अखाड़े लोक की सही मानसिकता का प्रतिनिधित्व करते थे। लोकोत्सव जहाँ अलग-अलग समूहों में भिन्न-भिन्न रूपों में मनाये जाते थे, वहाँ लोकसंचालित अखाड़ों में उन्हें एकरूपता मिलती थी। इस दृष्टि से इन अखाड़ों की भूमिका विशेष उपयोगी रही है।

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

पूर्वबुंदेल युग

ओरछा के विख्यात भक्तकवि हरिराम व्यास ने अपनी 'बानी' के पदों में दो प्रकार के व्रतों का उल्लेख किया है-पहला है अनन्य व्रत और दूसरा है असिधारा व्रत। अनन्य व्रत के संबंध में उनकी पंक्ति है-'अनन्य व्रत खाँड़े कैसी धार।' दूसरे शब्दों में अनन्यता का व्रत तलवार की धार पर चलना जैसा कठिन है। एक ही देवता की उपासना और अन्य देवी-देवता की आशा न करना अनन्य व्रत है। भक्ति-काल में यह व्रत एकनिष्ठ भक्ति का संकल्प माना जाता था। 'असिधाराव्रत' के संबंध में भगवतशरम उपाध्याय ने लिखा है कि 'आसिधाराव्रत' की विशेष महिमा माना जाती थी, यह जैसे तलवार की धार पर दौड़ना था। एक ही श्य्या पर युवती स्त्री के साथ सोकर भी उससे विरत रहना असिधाराव्रत का एक रूप था। वस्तुतः किसी भी बहुत कठिन व्रत को असिधाराव्रत कहा जाता था और व्यासजी की बानी इस तथ्य की साक्षी है कि इस युग में ऐसे कठिन व्रत किये जाते थे।

इस युग के काव्यग्रंथों में दीवाली, होली, बसंतोत्सव, झूला, शरदोत्सव एवं कजली को प्रधान माना गया है। व्यासजी की बानी में शरदोत्सव, झूला और वसंतोत्सव का वर्णन है, क्योंकि राधाकृष्ण की माधुर्योपासना में रास, झूला और विहार को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। रास शरद में, झूला सावन-भादों में और विहार शरद, वर्षा एवं वसंत में होता है। इस तरह भक्ति के दृष्टकोण से त्योहारों और व्रतों को देखने की परम्परा का समुचित विकास इस युग की प्रमुख विशेषता थी।

तुलसी भक्तकवि होते हुए भी समन्वय की भूमिका के कारण व्यापक दृष्टि रखते थे। उनमें लोक और वेद की रीतियों का अनोखा सामंजस्य मिलता है। इसलिए दीपमालिका, होलिका, वसंत, झूला, मकरसंक्रांति आदि में लोकपरम्परा को अधिक महत्त्व मिला है। उनके वर्णनों में आंचलिक वैशिष्ट्य भी है। फाग खेलने के वर्णन में वासन्ती साड़ी पहने और होरीगीत यानी फाग गाते हुए स्त्रियों के झुंड के झुंड निकलना, अबीर और रंग कुमकुमों एवं पिचकारियों में भरकर घालना, ऋतु के अनुसार गारियाँ देना, लोचनों में अंजन लगाकर पुरुषों से फगुआ माँगना आदि इस अंचल में प्रचलित रहा है। पुरुष गधों पर सवार होकर स्वाँग करते थे और कूटोक्तियाँ कहकर मन की रसिकता को बगरा देते थे। 'गीतावली' के उत्तरकाण्ड के पद संख्या २१ और २२ में बुंदेली होरी या फाग का तत्कालीन स्वरूप उभरकर सामने आ गया है। फाग के अवसर पर निर्लज्जता और दीपावली पर द्यूतक्रीड़ा का संकेत केशवकृत 'रामचंद्रिका' में मिलता है- 'फागुहि निलज लोग देखिए। जुआ दिवारी कों लेखिये।।' होलिका जलाने का उल्लेख 'विनयपत्रिका' में किया गया है। इसी प्रकार मकर राशि पर होने से सूर्य की पूजा करने के लिए प्रयाग में स्नान करने का संकेत 'रामचरितमानस' में मिलता है। झूला या हिंडोला के उत्सव का वर्णन हर कवि ने किया है। फूलरचना का व्यासजी और तुलसी ने। 'खेलत वसंत' से तात्पर्य क्रीड़ा से है। खेलना और मनाना में बहुत अंतर है। खेलना में जो आनंद है, वह मनाने जैसी क्रिया में नहीं है।

'महोबारासो' (परमालरासो) के दशम् सर्ग में कजरिया लोकोत्सव का वर्णन मिलता है। सावन मास की पूर्णिमा को 'कजरिया' सजकर निकलती थी, जिसमें नगर की स्त्रियाँ सम्मिलित होती थीं। वे लोकगीत गाती हुई अपनी 'कजरिया' तालाब में खोंटती थीं। तुलसी ने 'अखारा' और केशव ने 'समाज' का उल्लेख किया है। तुलसी ने 'रामचरितमानस' में 'समाज' का प्रयोग उत्सव या समारोह के अर्थ में किया है (१/९५/२)। केशव ने भी 'समाजों' की व्यवस्था दी है। लेकिन 'अखारे', और 'समाज'-दोनों परिष्कृत उत्सवी मानसिकता का पल्लवन करते थे, जिसमें आंचलिक चेतना का योग रहता

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

था, पर बहुत ही कम मात्रा में।

मध्यबुंदेल युग

संतकवलि अक्षर अनन्य ने 'अष्टांग योग' में 'आसंका व्रत की अरु प्रसाद की' शीर्षक के अंतर्गत स्पष्ट किया है कि 'राजा रुकमांगद ग्यास कौ ब्रत गहो, सोई निबाहो। बिधन भये पै ब्रत न छाँड़ो। उन सगे ग्यास के दिन अन्न-अन्न कहत मर गये पै ब्रत खंडित न करो।' दूसरे शब्दों में, व्रत एक प्रण है, जिसका पालन हर मूल्य पर करना अभीष्ट है। महाराज छत्रसाल बुंदेला के १७३०ई. के पत्र में आसादेवी के उल्लेख से आसमाई के व्रत का साक्ष्य मिल जाता है।

बख्शी हंसराज की कृति 'सनेह-सागर' में फाग, अखती और वटपूजन का विस्तृत वर्णन किया गया है। फाग में स्त्रियों और पुरुषों, दोनों का लोकगीत गाना, पुरुषों का स्वाँग रचना, स्त्रियों पर गुलाल-अबीर घालना, पिचकारियों से रंग छोड़ना, स्त्रियों का हरे बकेंड़ा (बाँस की छड़ियाँ आदि) से पुरुषों को तितर-बितर करना, पुरुषों का जेरी लेकर अड़े रहना, दोनों ओर से गीतों द्वारा संवाद और फाग खेलना, व्यक्तिगत रूप में फगुआ माँगने की परम्परा आदि की काव्यात्मक कथा इस त्यौहार के स्वरूप-निर्धारण में महायक है। 'अखती' (अक्षय तृतीया) में क्वाँरी लड़कियाँ सज-सँवर कर टिपरना में पुतरियाँ रख अखती पूजने जाती हैं। पुतरियों के खेल में विवाह का ही रूपक रहता है। फिर बुदरिया (पलाश की नयी लचीली शाखा) लेकर भौजी से भैया का नाम कहलाती हैं। इसी तरह भौजी ननद से और सहेलियाँ एक-दूसरे से पति का नाम पूछती हैं। वट-पूजन बराबरसात के अवसर पर होता है। स्त्रियाँ सज-धजकर वट-पूजन करती हैं और परिक्रमा देती हैं। परिक्रमा को ही भाँवर कहा जाता है। वट की पूजा के बाद उनसे वर का वरदान माँगा जाता है।

कविवर बोधा के 'विरह वारीश' की छब्बीसवीं तरंग में बारहमासी के माध्यम से वर्षभर के त्योहारों का उल्लेख किया गया है। ज्येष्ठ में बराबरसात, सावन में झूला, कार्तिक में देवउठनी एकादशी को आकाशदीप रखना, दीवाली, गोधन-पूजा और अन्नकूट, माघ में मकर-स्नान, फाल्गुन में होरी जैसे प्रमुख त्योहारों की नायिका के विरह-वर्णन का अंग माना गया है। छत्रसाल के छंदों में फाग, अखती, झूला के प्रचलन का प्रमाण मिलता है। हरिसेवक मिश्र ने अपने काव्यग्रंथ 'कामरूप कथा' में अखारों का वर्णन किया है, जबकि बोधा ने उनके स्वरूप का चित्रण किया है।

भक्ति-आंदोलन के प्रसार से इस अंचल में राम और कृष्ण की पूजा होने लगी थी। ओरछा में रामराजा की प्रतिष्ठा और चित्रकूट में रामभक्तों का समाज इस तथ्य के ऐतिहासिक गवाह हैं। तुलसी की 'रामचरितमानस' ने राम को लोकदेवता बना दिया था। इसलिए रामनवमी लोकोत्सव सहज स्वाभाविक था। इस क्षेत्र में कृष्णभक्ति का उद्भव और भी पहले हो चुका था, परंतु उसकी लोकप्रियता पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती में ही हुई। कृष्णायण और कृष्णचंद्रिका प्रबंधकाव्यों की रचना से यह स्वयंसिद्ध है। यह निश्चित है कि इस कालखण्ड में **रामनवमी** और **जन्माष्टमी** के लोकोत्सव प्रचलित हो गये थे। उनके संबंध में लोकगीतों की रचना हो चुकी थी।

प्रस्तुत कालखण्ड हर तरह के लोकगीतों का उत्कर्ष-काल है। लोकोत्सव खासतौर से धार्मिक लोकोत्सव-संबंधी लोकगीत इसी समय रचे गये थे। उनसे लोकोत्सवों में एक नयी ताजगी आयी और लोक में एक नया उत्साह उदित हुआ,

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

जिससे समाज में व्याप्त निराशा तिरोभूत हुई। लोकोत्सवों की सार्थकता का एक नया अध्याय शुरू हुआ।

उत्तरबुंदेल युग

इस युग में लोकोत्सवों पर रियासती ऐश्वर्य का प्रभाव अधिक रहा, जिसके कारण वसंतोत्सव, फाग, अखती, जलविहार, झूला, फूलरचना जैसे भोगोन्मुख प्रेमपरक और विजयादशमी जैसे ऐश्वर्यपरक लोकोत्सव प्रमुख हो गये। दीवाली समृद्धिपरक होने की वजह से सभी वर्गों को प्रिय थी। राखी, गनगौर आदि गौण रहे। धार्मिक दृष्टि से रामनवमी, जन्माष्टमी, शिवरात्रि और मकरस्नान प्रधान थे। हर सम्प्रदाय अपने उत्सवों को महत्त्व देने में अग्रणी था, पर लोक ने इन चारों को अपना लिया था। केवल नवरात्रि उत्सव ऐसा था जो शाक्त सम्प्रदायों से प्रेरित होने पर भी सम्प्रदायमुक्त था। पारिवारिक दृष्टि से तीजा (हरतालिका), सन्तानसातें (संतानसप्तमी) और गनगौर ने अपना स्थान बना लिया था। कार्तिक स्नान और व्रत कृष्ण से संबंधित होने से लोकप्रिय हो गये। अनेक परम्परित व्रत और त्योहार उतने महत्त्व के न होने पर भी प्रचलित रहे।

लोकोत्सव एक अंचल से दूसरे अंचल की यात्रा करते थे। गोवर्द्धन, अन्नकूट और कार्तिक व्रत ब्रजी प्रदेश से आये थे। गनगौर राजस्थान से मालवा होकर इस अंचल में प्रविष्ट हुआ था। **बुढ़वामंगल** की धूमधाम वाराणसी में थी और बुढ़वामंगल मनाने के बहाने बुंदेलखंड के नरेशगण वाराणसी गये थे, जहाँ उन्होंने अंग्रेजों को इस क्षेत्र से निकालने के लिए स्वतंत्रता-संग्राम के संबंध में गुप्त मंत्रणा की थी। जैतपुरनरेश पारीछत इस योजना के मुखिया बने थे। फिर चरखारी में दूसरा बुढ़वामंगल हुआ था, जिसमें सभी ने शपथ ली थी कि वे आजादी की लड़ाई में संगठित होकर अंतिम साँस तक लड़ेंगे। इस प्रकार बुढ़वामंगल मनाया तो गया, पर बाद में लोकप्रिय न हो सका।

इस अंचल के प्रसिद्ध कवि ठाकुर और पद्‌माकर ने **फाग** खेलने की कई मुद्राओं का चित्रण किया है। 'जगद्विनोद' में गुलाल, अबीर और रंग की वर्षा के कई दृश्य अंकित हुए हैं। हुरियारों का घोष, धमार की धुनि में गायन, गारियाँ देना, पिचकारी की घालन, स्त्रियों का फगुआ लेना और बात-बात में अपने बाबा की शपथ खाना बुंदेली फाग की कतिपय विशेषताएँ हैं, जो पद्‌माकर ने संकेतित की हैं। ठाकुर के मुक्तकों में भी फाग के कई चित्र लिखे गये हैं, जो आज तक अपनी मौलिकता बनाये हुए हैं। पद्‌माकर ने वर्षा में झूला और जलविहार, वसंत में वसंतोत्सव और फूलरचना तथा कार्तिक में दीपावली का वर्णन किया है। ठाकुर ने अखती, राखी, विजयादशमी आदि उत्सवों को प्रधानता दी है। **अखती** में पुतरियों का खेल और पति के नाम का उच्चारण करवाना रीतिकवियों का प्रिय रहा है। पद्‌माकर राजस्थान के गनगौर से परिचित थे, इसलिए उन्होंने बुंदेलखंड के गानगौर को भी महत्त्व दिया था। कवि लोकोत्सव की बदलती मानसिकता से भी परिचित था-'औरै रस औरै रीति औरै राग औरै रंग, औरै तन औरै मन औरै बन ह्वै गये।'

लोकोत्सवों के प्रति बदले हुए दृष्टिकोण का एक कारण सन् अठारह सौ सत्तावन की आजादी की लड़ाई के लिए लोकमन को तैयार करना था। इसलिए कटककाव्यों में युद्ध को फाग के रूपक के माध्यम से चित्रित किया गया था। 'शत्रुजीतरासो' में फाग का रूपक (छंद २७९) एक उदाहरण है, जो एक परम्परा में ढलकर युद्धगीतों औरप काव्यों में निरंतर बना रहा। असल में, लोकगीत सबसे ज्यादा जागरूक रहता है। वह सच को बड़ी चतुराई से समेट लेता है।

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

टिसुआ जाने वाले लोकगीत की दो पंक्तियों पर विचार करें-

> चट्टिन चट्टिन बनिया लूटै सोरह नार फिरंगी।
> ठाकुर दोरें पंडा लूटै जात्री भये उदासी।।

इनमें फिरंगियों के द्वारा नारियों की लूट का उल्लेख स्पष्ट करता है कि लोकगीत, लोकधर्म और लोकोत्सव देश-प्रेम और राष्ट्रीयता को किसी-न-किसी रूप में अपनाते रहे हैं। बाँदा के नवाब शमशेरबहादुर द्वितीय (१८०२-२३) के अंग्रेजी सेना से संघर्ष की वेदना में हुरयारे आज भी गाते हैं-

> ठहोरी मच रयी जमुना के घाट,
> दोनऊ तरफ फौजन के हाट।
> उतै सें लड़े गोरा फिरंगी, इतै सें अकेलौ नवाब।।'

पुनरुत्थान युग

आर्यसमाज का प्रभावइ स अंचल को नयी विचारधारा से जोड़ता है, परंतु वह नगरों तक सीमित रहा और गाँव अछूते रहे। मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में लिखा था कि 'प्राचीन हों कि नवीन छोड़ो रूढ़ियाँ जो हों बुरी, बनकर विवेकी तुम दिखाओ हंस जैसी चातुरी।' यह निश्चित है कि अधिकांश लोकोत्सव रूढ़िबद्ध हो चुके थे और उनके सुधार का आह्वान गूँज रहा था, लेकिन गाँवों में अंग्रेजों का भय व्याप्त था और जमींदारों ने उन्हें अपनी मुट्टी में कर लिया था। इस स्थिति में लोकोत्सव ही ग्रामीण जीवन के क्षणिक आनन्द के साधन थे। इसी कारण उनमें होली या फाग की उन्मुक्तता और अधिक लोकप्रिय हो गयी थी। ईसुरी और ख्याली जैसे फागकारों ने तो अपनी फागों से उसे और गति प्रदान की। अंग्रेजों के दमन और जमींदारों के शोषण से उत्पन्न निराशा की परतों को तोड़ने के लिए यह लोकोत्सवी उल्लास अनिवार्य था।

रियासतों पर अंग्रेजों का दबाव इतना था कि लोकोत्सव मनाने के लिए सूचना देनी पड़ती था। तूसरी तरफ, हर रियासत में राम अथवा कृष्ण-भक्ति की रसिक परम्परा गतिशील थी, जिसमें होरी, जलविहार, झूला या हिंडोरा, शरदोत्सव और कार्तिक व्रत ही महत्त्वपूर्ण थे। यही कारण है कि रूपकुँवरि, वृषभानुकुँवरि, रतनकुँवरि, कंचनकुँवरि आदि के गीतों मेंइ न्हीं लोकोत्सवों का वर्णन है। राम को रघुवंशी छैला और कृष्ण को रसिया छैल मानकर **होरी** में स्वच्छंद प्रेम का निरंकुश चित्रण किया गया है। सारी-सरहज से भी फाग खेली जाती थी और फगुआ माँगने का चलन बना हुआ था। सावन को झूलन की ऋतु घोषित कर दिया गया था। जलविहार में रियासत की ओर से भी गीतनृत्यादि होते थे। छतरपुर का जलविहार प्रसिद्ध था। कतकारियों के लिए रियासत से फलाहार की व्यवस्था होती थी। राखी, दशहरा, दिवारी आदि त्योहार उल्लासपूर्वक मनाये जाते थे। भुजरियाँ या कजरियाँ उत्सव में भाई का बीरा चबाकर उन्हें पुजवाकर खोंटाना इस अंचल की वीरता और भाई के प्रेम का प्रतीक है। राखी भी भुजरियों के बंधन से मजबूत हुई है।

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

आधुनिक युग

बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक लोकोत्सवों का ताना-बाना बिल्कुल वैसा ही था, जैसाकि उन्नीसवीं शती में था। इतना अवश्य है कि उनके अंगों-उपांगों, लोकचित्रों, प्रतीकों आदि की व्याख्या शुरू हो गयी थी। परतंत्रता के खिलाफ आन्दोलनों की ऊर्जा लोकोत्सवों से प्राप्त होती थी और इसका साक्षी महाराष्ट्र का गणेशोत्सव एवं बंगाल का दुर्गोत्सव है। लोकिन बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में लोकोत्सव धीरे-धीरे औपचारिक होते गये। उनके भीतर की भावमयी धड़कन बंद होती गयी और वे यांत्रिक जीवन के नीरस अवयव की तरह मौजूद हैं। पुरुषों के पास न तो उतना अवकाश है और न जुड़ाव कीर वह मानसिकता, इसलिए लोकोत्सवों की जिम्मेदारी नारियों पर आ पड़ी है। नारियाँ रूढ़ियों की बैसाखियों के सहारे लोकोत्सवों को चला रही हैं। उन्हें उनके स्वरूप की वास्तविकता और उसकी उपयोगिता से कोई मतलब नहीं। अतएव सजग लेखनी का धर्म यही है कि वह लोकोत्सवों का सही अर्थ स्पष्ट करें, जिससे परिचित होकर आधुनिक समाज अपने गंतव्य को पहुँचने में सफल हो।

कुछ व्याख्याएँ

कुछ व्रतों और त्योहारों में ऐसी रूढ़ियाँ हैं जो पहले उपयोगी होने की वजह से लोकमान्य स्थापनाओं के रूप में जारी रहीं, फिर बाद में अनुपयोगी होने पर भी अनुसरित होती हुई रूढ़िबद्ध होती गयीं। लोक ने उनका वास्तविक अर्थ भी भुला दिया। यहाँ पर कुछ अज्ञात और विवादग्रस्त रहस्यों या अबूझ तथ्यों की व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

(अ) अकती-अक्षय तृतीया से आखातीज या अखतीज और अखतीज से अखती या अकती बना है। वैशाख-शुक्ल की तृतीया को यह त्योहार होता है। इसमें चौक पूर कर पाँच या सात घैला पानी से भरकर रखे जाते हैं और उन पर सतुआ, गुड़, ककड़ी, खरबूजा, आम, गुलगुला, पकौड़ी आदि रहते हैं। हाथ की बनी पुतरिया-पुतरा भी चौक पर पधराये जाते हैं। क्वाँरी लड़कियाँ उनकी पूजा करती हैं। बाद में संध्या को उन्हें किसी बरा (बरगद) वृक्ष के नीचे ले जाती हैं और पुतरा-पुतरियाँ की भाँवरें बरा के फेरे लगाकर पड़ जाती हैं। विवाह के बाद भिगोये देवल बाँटे जाते हैं। वहीं ननद, भौजी और सहेली चमेली या पलाश की बुदरिया लिये हुए एक-दूसरे से पति का नाम पूछती और कहलाती हैं।

उक्त वर्णन में विवाह या सौभाग्य को पवित्र मानकर पूजने एवं विनोदभरे उल्लास से उसे मान्यता प्रदान करने का भाव ही प्रधान है। जलभरे कलश और पक्वान्न या फल परिपूर्णता के मांगलिक प्रतीक हैं। नये घड़ों और नये भोज्यों का प्रयोग अकती से होने लगता है।

(ब) बरावरसात (वट-पूजन)-ज्येष्ठ-कृष्ण अमावस्या को सौभाग्यवती स्त्रियाँ सौभाग्य की कामना से व्रत रखती हैं। दिन-भर उपवास और संध्याकाल में वट-पूजन। बुंदेली में वट को बरा का वृक्ष कहते हैं। अमावस्या से वर्षा-आरम्भ की लोकमान्यता भी है और वृक्ष एवं वर्षा का घनिष्ठ संबंध है।इ स कारण बरा (वट) यानी कि वृक्ष को केन्द्र में रखकर उसका पूजन किया गया है। सावित्री-सत्यवान की कथा में सावित्रि ने बरा के आश्रय (छाया) में ही सत्यवान को रखकर

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

यमराज से वर प्राप्त किये थे। इस रूप में भी बरा सौभाग्य (सुहाग) की कामना की पूर्ति करने का प्रतीक बन गया है। इसीलिए बरा के फल जैसे गोल-गोल बारह आटे के फल व्रत करनेवाली स्त्री ग्रहण करती है, जो फल (वर) प्राप्ति का प्रतीक है। संक्षेप में, वट (वृक्ष का प्रतीक) एक तरफ वर्षा-रूपी फल देता है, तो दूसरी तरफ वर (सुहाग) रूपी फल का निमित्त बनता है। दोनों कारणों से वह पूज्य है।

(स) आसमाई-आसमाई का व्रत आषाढ़ के तीसरे रविवार को रखा जाता है। इसका महत्त्व इसलिए है कि वह जीवन में भूख, प्यास और नींद की अपेक्षा आशा को अधिक उपयोगी सिद्ध करता है। इस व्रत में स्त्रियाँ पान या केले के पत्ते में चंदन या हल्दी से चार पुतरियाँ बनाती हैं, जिन्हें भूखमाई, प्यासमाई, नींदमाई और आसमाई माना जाता है। उनकी पूजा होती है और १२ आसें तथा १२ लड्डू भोग के लिए अर्पित किये जाते हैं। देवियों के पास ही १२ कौड़ियाँ रखी जाती हैं, जिनकी पूजा का प्रतीकात्मक अर्थ व्रत-कथा से स्पष्ट हो जाता है। कथा का नायक बाराजीत अपने राज्य से निष्कासित होने पर एक सरोवर के किनारे रुकता है और वहाँ चार दैवियों (भूखमाई, प्यासमाई, नींदमाई और आसमाई) में आसमाई को ही प्रणाम की बात कहकर उन्हें ही महत्त्व देता है, जो १२ कौंड़ियाँ और उनसे खेलने पर जीत का वर प्रदान करती हैं। फिर वह द्यूत में धन-सम्पत्ति, राजपाट, राजकुमारी आदि सबकुछ प्राप्त करता है। १२ आसें आशाओं और १२ लड्डू फलों के भोग के प्रतीक हैं। साथ ही बाराजीत नाम भी बारह के अंक की विजय को प्रमाणित करता है।

(द) कुनघुसू पूनो-आषाढ़-शुक्ल पूर्णिमा को हर सास एक कमरे के चारों कोनों में चार पुतरियाँ या तो हल्दी या गोबर से लिखती है या गोबर की बनाकर बैठाती है। फिर उनकी पूजा करने के बाद कहती है कि 'बहू जू घर की लक्ष्मी बनकर घर भरना।' स्पष्ट है कि इसमें बहू या गृहलक्ष्मी का सम्मान अनिवार्य माना गया है।

(य) आसाड़ी अठवाई-आषाढ़ के माह में अमावस्या के बाद किसी सोमवार-शुक्रवार को सभी देवताओं का पूजन किया जाता है और अठवाई चढ़ाई जाती है। यह सम्प्रदाय से मुक्त सच्चे लोकधर्म का प्रतीक है।

(र) कजरयाऊ नमें-श्रावण-शुक्ल नवमी को स्त्रियाँ व्रत रखकर संध्याकाल में दीवाल पर गोबर या गेवरी से नौ घरावाल पुतरियाँ नमें लिखती हैं । कहीं-कहीं नौ पुतरियाँ लिखि जाती हैं। उनका पूजन होता है। वस्तुतः यह व्रत और पूजन नौ देवीयों का ही है। उसी समय दोनों में गेहूँ या जौ बोकर किसी अँधेरे स्थान में रख देते हैं अथवा उन दोनों को ढक दिया जाता है। इसी क्रिया से कजरिया लोकोत्सव का प्रारम्भ हो जाता है।

दोवियों को बेढ़ई या बिढ़ई का भोग लगता है। बिढ़ई या बेढ़ई देवल और उर्द की दाल की पिठी भरकर बनायी गयी रोटी है। भोग लगने के बाद एक कथा कही जाती है जो बहुत विचित्र है। यहाँ संक्षिप्त रूप में बुंदेली भाषा में प्रसुतुत है-'ऐसें-ऐसें एक सेठ-सिठानी हत। सिठानी कओ करत तीं के हम तुमाये बिना पानी लों नईं पियत, पै सच्ची तो जा हती के अपुन भाँत-भाँत को चुनत हतीं उर उनखाँ चुनी-चोकर देत तीं। एक दिना सेठ के मन में बस गयी के सिठानी ऐसौ का खात जो मुटात जात, उर बो दुबरो होत जात। एक दिना बे बैन के घरै जाँय को बहानो कर कें गिरस्थी के कमरा की कुठिया में दुक रये । सिठानी पानी भरन गयीं तो दो अच्छे पोंड़ा ल्याईं। सूनो जानकें पोंड़ा चोखे, फिर खिचड़ी बनाकें खूब घी डारकें खाई। खा-पीकें पड़ोसिन के इतै जाकें मालुम भओ कै आज नमें है, सो उरैन डारी। बिढ़ई बनाईं,

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

नमें लिखी उर पूजा करी। भोग लगाकें बोलीं-'नमें बाई, नमें बाई, नौ बिढ़ई खैहौ, एक बिढ़ई कम रैयै तो कुठिया में दुक रैहौ।' कुठिया से आवाज आई-'हूँ'। एक-दो बार आजमा कें सिठानी नें पड़ोसिनन सें कई कै हमायी नमें तो बोलत है। सब जनीं अचरज भरकें ऊके घरै आई उर उननें सुनी कै नमें बोलत हैं। सिठानी जौलों पड़ोसनन खाँ पोंचाउन गयीं तौलों सेठ कुठिया सें निकर कंदोरे में अनमने से बैठ गये। सिठानी आकें बोली-'बैन के घर से इत्ती उल्दी लौट आये, अनमने काये हो ?' सेठ नें कई कै बड़े असगुन भये। जैसई कुआ के ऐंगर पौंचे सो दो बड़े पौंड़ा जैसे साँप मिले। बे ऐसें सरकत ते जैसें खिचड़ी में घी सरकत। सिठानी सुनकें रै गईं उर सेठ नें गुस्सा में उनें खूब पीटो। सिठानी लज्जित होकें छिमा माँगन लगीं।' इस कथा से यह सीख मिलती है कि पत्नी को चटोरी नहीं होना चाहिए। कितनी यथार्थपरक कहानी है। देवियों का संबंध सृजन से है, अतएव कजरियों का बोना नौ देवियों से जुड़ जाता है। लेकिन कथा में जीवन **के जिस आचरण का** वास्तविक चित्रण है, वह देवी-पूजन से मेल कहाँ तक खाता है? **फिर भी** उसकी विषयवस्तु में यही व्यंग्य है कि खूब खा-पीकर व्रत और पूजन उचित नहीं है। सेठानी ने पति के न रहने पर खाने-पीने की आदत डाल रखी थी औरऊ पर से व्रत-पूजन और देवी के साक्षात् प्रकट होने का प्रदर्शन करती थी, इसी आचरण-वैषम्य को दिखाना कथाकार का अभीष्ट हे। इसी का फल सेठ द्वारा देवी (सेठानी) की पूजा करना है।

(ल) मामुलिया-क्वार मास के कृष्णपक्ष में क्वाँरी कन्याएँ मामुलिया या महबुलिया खेलती हैं। लोकप्रचलित शब्द है-'मामुलिया 'खेल' रयीं', जिससे वह एक 'खेल' प्रतीत होता है। लेकिन जब कन्याएँ बेरी की काँटेदार शाख लेकर, उसे विभिन्न प्रकार के पुष्पों से सजाकर और फल, मेवादि खोंसकर लहँगा एवं ओढ़नी में मालवीकृत कर देती हैं तथा लिपे स्थान पर चौक पूर कर उसे प्तिष्ठित करने के बाद हल्दी, अक्षत, पुष्पादि से पूजती हैं और अठवाई, पंजीरी, हलुआ, फलादि का भोग लगाती हैं, तब वे देवी सिद्ध होती हैं और पूरा खेल उनकी उपासना हो जाता है। अतएव मामुलिया की पहचान एक प्रमुख समस्या है। यदि वह नारीरूपा मानवी है, तो यह निश्चित हे कि कन्याएँ उसकी पूजा नहीं कर सकतीं, क्योंकि बुंदेलखंड में कन्या के चरणस्पर्श सभी स्त्री-पुरुष करते हैं। यह बात अलग है कि मामुलिया कोई सती या विशिष्ट आदर्श की प्रतीक नारी हो, जैसा कि एक गीत की पंक्ति से लगता है-'मामुलिया के आ गये लिबौआ झमक चली मोरी मामुलिया।'

मामुलिया में नारीत्व की प्रतीकात्मकता तो है, जैसे पुष्पों की कोमलता, सुन्दरता और प्रफुल्लता; काँटों की प्रखरता, संघर्षशीलता और वेदना तथा फलों की सृजनशीलता, उदारता और कल्याण की भावना-सब नारी में निहित है। इन गुणों के साथ उसमें पातिव्रत्य की साधना के लिये पूरी-पूरी तत्परता है। सतीत्व की संकल्पधर्मिता के कारण वह नारी का अनुकरणीय मॉडल बन जाती है। इस प्रकार की समन्विता नारीमूर्ति देवी ही है। संझा या संजा को देवीरूपा माना गया है, इस दृष्टि से मामुलिया को देवी की लोकमान्यता निश्चित ही मिली थी।

एक प्रतीकात्मकता यह भी है कि पुष्प रूपी सुख और काँटे रूपी दुःख से यह जीवन बना है। जीवन का जब तक श्रृंगार होता है, तब तक उसके लिबौआ (विदा कराने वाले) आ जाते हैं। यह क्षणभंगुरता जीवन की अस्थिरता को संकेतित करती है। इस प्रकार मामुलिया में दार्शनिक महाबोल (आर्ष सत्य) की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हुई है,इ सीलिए इसे महाबुलिया, महबुलिया, माबुलिया, मामुलिया कहा जाता है।

(व) महालक्ष्मी-अभी कुछ दिनों पहले महालक्ष्मी-पूजन के अंत में कहे जाने वाले बोलों की व्याख्या का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था। वे बोल इस प्रकार हैं-

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

अमोती दामोती रानी
पोला पर पाटन गाँव
मगरसेन राजा
बम्मन बरुआ कयें कहानी
हमसों काते तुमसों सुनते
सोरा बोल की एक कहानी

उक्त अंश में सोलह शब्द हैं और वे एक कहानी का संकेत करते हैं, जिसमें एक पोला पर पाटन गाँव के राजा मगरसेन के आमोती और दामोती नामक दो रानियाँ थीं, जिनकी कहानी पण्डित-ब्राह्मण कहता है। उस कहानी के वक्ता और श्रोता हम-तुम हैं और वह सोलह बोल की है। पूरी कहानी इस प्रकार है कि राजा मगरसेन के अमोती और दामोती नामक दो रानियाँ थीं। राजा ने महालक्षमी जू का व्रत समझकर उसे किया और सोलह गाँठोंवाला गड़ा बाँधकर दामोती के महल गये। राजा के सो जाने पर छोटी रानी ने वह गड़ा खेलकर फेंक दिया। साथ ही वृद्धा के वेश में आयी महालक्ष्मी का भी अपमान किया, जिससे वह अभिशप्त हो सुअरनी बन गयी। बड़ी रानी आमोती ने फेंके हुए गड़े को उठाकर पण्डित से समझकर महालक्ष्मी व्रत किया, तो महालक्ष्मी उनसे प्रसन्न होकर उन्हीं के यहाँ रहने लगीं। अभिशप्ता सुअरनी ने एक ऋषि के उपदेश से व्रत किया, तो फिर वह रूपवती दामोती बन गयी और राजा उसे लौटा लाये। फिर तीनों आनन्द से रहने लगे।

पूरी कहानी को सोलह बार न कहना पड़े, इसलिए उक्त पद्यमय पंक्तियों को ही दुहरा दिया जाता है। इस व्रत में सोलह का महत्त्व इसलिए है कि व्रती को यह व्रत सोलह दिन करना चाहिए, जिसे वह एक दिन में सोलह की आवृत्ति से अनुष्ठान की सफल सम्पन्नता के साथ पूरा कर लेता है। इससे स्पष्ट है कि ये पंक्तियाँ पूरी कहानी का संक्षेप हैं, जिसे कहने से पूरी कहानी का फल प्राप्त हो जाता है। रामकथा को संक्षेप में कहने की लोकोक्ति देखें

एक भयेते रामन्ना
एक भयेते रावन्ना
उननें उनकी सिया हरी
उननें उनकी नास करी

कथा को संक्षेप में कहने और दुहराने की परम्परा बहुत प्राचीन थी और लोक उसका अनुसरण करता रहा है।

(क) नौरता का दैत्य या दानव

क्वार माह के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ होनेवाला नौरता क्वाँरी कन्याओं द्वारा खेले जानेवाला खेल माना जाता है, वैसे उसमें गौरा का पूजन और अनुष्ठान सम्मिलित है, जो कन्याओं को संघर्षधर्मी शक्ति देता है। नौरता में नौ सीढ़ियों का एक छोटा चबूतरा बनाया जाता है और उस पर मिट्टी के गौरा-महादेव प्रतिष्ठित किये जाते हैं। चबूतरे के ऊपर दीवाल पर एक दानव या दैत्य बनाया जाता है, जिसे कन्याएँ सुअटा या सुआटा कहती हैं। दीवाल में दानव के ऊपर अगल-बगल सूर्य और चंद्रमा बने रहते हैं। यहाँ पर चबूतरे का पूरा चित्रण अभीष्ट नहीं है, समस्या है कि यह

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

सुअटा दानव या दैत्य कौन है।

दानव या दैत्य की मूर्ति से स्पष्ट है कि उसे कौंड़ियों और काँच के टुकड़ों से सजाकर दैत्याकार रूप दिया गया है। एक हाथ में तलवार और एक में ढाल लिये हुए। गले में कौंड़ियों या गुरियों की माला और कानों में बड़े-बड़े कुण्डल। लोकप्रचलित है कि यह दैत्य या दानव कन्याओं का अपहरण कर उन्हें खा जाता था, अथवा उन्हें परेशान करता था। उससे मुक्ति पाने के लिए कुमारियों ने गौरा की पूजा का व्रत लिया और नौदिनी अनुष्ठान किया था। साथ ही उस दैत्य से भी समझौता-सा हो गया, क्यों कि लोक ने उसे सम्मानित और पूज्य मान लिया। इसीलिए कुमारियाँ भी रक्षा के भाव से उसे पूजती हैं। इसके बाद की कथा में विभिन्न स्थानों के प्रचलन इस प्रकार हैं-(१) 'नवरात्रि' के बाद 'ढिरिया' माँगना चौदस तक चलता है। पूर्णिमा के दिन 'सुअटा' की 'मरग' (अंत्येष्टि भोज) की जाती है। (२) एक 'टेसू' नामक वीर 'सुआटा' की पुत्री 'झिंझिया' पर रीझकर 'सुआटा' को परास्त करता है और 'झिंझिया' से विवाह रचाता है। विवाह की रात में ही सुआटा लूटा जाता है। उसके अंग-प्रत्यंग विनाष्ट कर लूटे जाते हैं। उसके अलंकरण या रत्न (कौंड़ियाँ, गुरिया आदि) घर, खासतौर पर तिजोड़ी में रखना शुभ माना जाता है। (३) 'टेसू' की 'सुआटा' की पुत्री ढिरिया से शादी होने पर टेसू खेलनेवाले 'सुआटा' राक्षस के हाथ-पैर और नाक-कान काट लेते हैं। (४) छतरपुर में कुमारियाँ दीवार के 'सुआटा' के अतिरिक्त एक दैत्याकार भूत रास्ते में बचे हुए रंगों से उस दिन बनाती हैं, जिस दिन ढिरिया फिरती है। वे ढिरिया लेकर माँगने जाती हैं और लड़के (भाई) उस भूत को लातों से कुचलते हैं, थूकते हैं और मिटाते हैं।

सुअटा दानव को कुछ विद्वानों ने भूतनाथ शिव माना है। उनका कहना है कि विवाह के पहले शिव भतनाथ थे और उन्हें पाने के लिए गौरा ने व्रत और अनुष्ठान किया था। कुमारियाँ भी गौरा की भाँति वांछित पति के लिए अनुष्ठान करती हैं। इस दृष्टि से देखने पर एक आपत्ति यह है कि 'सुअटा' की प्रतिमा 'भूतनाथ' से मेल नहीं खाती। उसमें भतनाथ का कोई प्रतीक-अलंकरण नहीं है। नाग, बिच्छू बर्र, मुण्डमाल, चन्द्र और गंगा का कोई चिन्ह नहीं है। शिव की सवारी नन्दी का भी कोई पता नहीं चलता। ठीक इसके विपरीत वह प्रतिमा तलवार और ढाल लिये हुए प्रतर्शित की गयी है। साथ ही उसकी 'मरग', उसके विनष्ट और अपमानित होने से उसे भूतनाथ शिव की प्रतिमा नहीं माना जा सकता। फिर प्रश्न तो लोकमान्यता का है। भूतनाथ के समर्थन में एक विद्वान् ने यह प्रमाण दिया है कि 'सुअटा' की प्रतिमा के माथे पर चन्द्रमा शोभित है। संभव है कि किसी ने भूल से लोकचित्रण या लोकमूर्तन का प्रतीक चन्द्र (सूर्य की बायीं ओर) 'सुअटा' प्रतिमा पर अंकित कर दिया हो, लेकिन पारम्परिक आकृति में 'चन्द्र' का अंकन कहीं नहीं मिलता। सिद्ध है कि 'सुअटा' की प्रतिमा किसी दैत्य, दानव, राक्षस, भूत, पिशाच की ही है, भूतनाथ शिव की नहीं।

फिर यह 'सुअटा' नामधारी है कौन ? वस्तुतः 'सुअटा' स्कंद ही हैं। स्कंद 'पिशाच' रूप में पुरुष और स्त्री-ग्रहों के अधिपति थे। पिशाच रुप में जहाँ वे शिशुओं का मांस खाते थे, वहाँ मातृदेवियों से भी उनका सबंध धनिष्ट था। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि सभी घोर ग्रहों का

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

अन्तर्भाव स्कंद में हो जाता था। स्कंद की पत्नी 'षष्ठी', हारीति या जातहारिणी, वीमाता आदि के उदाहरणों से यह सिद्ध है कि वे शिशुओं की संहारक और अनिष्टकारक होने के कारण लोकदेवी के रूप में मान्य हुई थीं। इसी प्रकार स्कंद का आरंभिक पिशाच-रूप धीरे-धीरे अपदेवता के रूप में लोकमान्य हुआ और अन्ततः शक्तिशाली देवरूप में परिवर्तित हो गया। अपदेव की पूजा का आधार उनकी विनाशक प्रवृत्ति से सुरक्षा था। यही कारण है कि स्कंद-रूपी सुअटा कुमारियों के द्वारा पूजित रहा और करवा चौथ में भी वह कार्तिकेय के रूप में पूज्य बना रहा। नाग-वाकाटक काल में स्कंद-पूजा का उत्कर्ष था, इसलिए उसकी व्याख्या वहाँ भी द्रष्टव्य है।

(ख) नौरताः कुछ साम्य-वैषम्य-व्रज में नौरता को न्यौरता कहते हैं, क्योंकि वह नवरात्रि में खेला जाता है। मिट्टी के एक छोटे घर में दीवाल पर देवी की मूर्ति स्थापित की जाती है और प्रातः 'गौरें' चढ़ायी जाते समय गीत गाये जाते हैं। 'गौरें चढ़ाना' का अर्थ है-मिट्टी की बहुत छोटी-छोटी 'गौरें' बनाना और चढ़ाना। बुंदेलखंड में गौरा-महादेव मिट्टी के बनाये जाते हैं और प्रतिदिन 'सुअटा' के चबूतरे पर प्रतिष्ठित किये जाते हैं। व्रज में दो प्रकार के गीत गाये जाते हैं-एक तो गौरी-गौरा से प्रार्थना या भजन-गीत और दूसरे याचना-गीत, जिनमें पुत्री पिता, भाई और भाभी के लिए तथा बहुएँ ससुर और अपने लिए कुछ-न-कुछ माँगती हैं। गौरी की झाँई (दर्शन) के गीत में विभिन्न वस्त्राभरणों का उल्लेख रहता है। लगभग यही वस्तु बुंदेली गीतों की है। इतना अवस्य है कि बुंदेली नौरता की कथावस्तु में विस्तार हुआ है। गौरा (दुर्गा) द्वारा दानव का वध बुंदेली नौरता को गरिमा प्रदान करने में सफल हुआ है।

अन्य अंचलों में 'साँझी' प्रचलित है। ब्रज में साँझी के साथ साँजा भी पूज्य माना गया है। राजस्थानी, मालवी, कौरवी, हरियानी और खड़ी बोलियों के क्षेत्रों में संझ्या, साँझी, साँजी और साँझी प्रचलित हैं। नौरता के स्थान पर साँझी का प्रचलन यह स्पष्ट करता है कि साँझी लोकजीवन में नारी की प्रतिमूर्ति है। नारी का अपहरण अधिक जटिल समस्या नहीं रहा। नौरता में ढिरिया या झिंझिया निकाली जाती है। कन्नौजी अंचल में 'झुंझिया' का रिवाज है। नवरात्रि में नौ दिन साँझी की पूजा बुंदेली नौरता की गौरा की ही पूजा है। अतएव नौरता के दानव की कल्पना को छोड़कर सबकुछ देविपूजा का साधन सिद्ध हुआ था। डॉ. श्याम परमार साँझी का उद्‌गम अजमेर-साँगानेर (राजस्थान) से मानते हैं। उनका मत है कि उसका फैलाव घुमन्तू जातियों से हुआ है। जहाँ तक उद्‌गाम का प्रश्न है, बुंदेलखंड की मामुलिया अन्य अंचलों की साँझी से भिन्न है। उसका प्रमुख आधार वृक्ष की प्रतीकात्मकता है। वृक्ष के पुष्प, काँटे, फल आदि सब नारीधर्म के प्रतीक हैं। इसलिए इस अनुष्ठान में वृक्ष-पूजा जैसी प्राचीन आदिवासी पूजा का सहारा लिया गया है। इसी बिन्दु को सामने रखकर उसका उद्‌गमइ सी अंचल की आदिम वृक्ष-पूजा से मानना अधिक उचित है। इस रूप में वह मध्यकालीन सामंती प्रवृत्ति का अनुकरण

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

नहीं कही जा सकती। सौन्दर्य के उपकरण और अलंकारों के प्रति नारी का लगाव हर युग में रहा है और हर युग ने उसे उपभोग की आँख से देखा है। इस कारण गीतों की नारी को अवमूल्यित नहीं किया जा सकता। फिर गौरा की नारी अनीति के दानव का वध करती हुई ऊर्जस्वित नारीत्व का प्रतिनिधित्व करती है, जो बुंदेलखण्डी लोकसंस्कृति की ऊँचाई का माप प्रस्तुत करने में समर्थ है।

नौरता के गीतों में 'नारे सुअटा' की आवृत्ति छत्तीसगढ़ी सुआ गीतों का स्मरण करा देती है। सुआ गीत में हर पंक्ति का संबोधन 'रे सुवना' नौरता के 'नारे सुअटा' से साम्य रखता है। 'सुअटा' का अर्थ सुआ ही है। शुक आख्यानक काव्य में संदेशवाहक रहा है, अतएव उसे सुनाकर व्यथा-वेदना व्यक्त करने की परम्परा का अनुसरण किया गया है। कई विद्वानों ने 'दानव' का नाम सुअटा या सुआटा दिया है। वस्तुतः 'सुअटा' का 'दानव' से जुड़ना मध्यकाल में संभव हुआ है, तभी से इस अनुष्ठान का नाम भी 'सुअटा' पड़ गया है।

(ग) टेसू की पहचान-इस अंचल में नौरता जितना प्रचलित है, उतना टेसू नहीं। इसका कारण नौरता का नवरात्रि से जुड़ना है, जबकि टेसू नवरात्रि की धार्मिकता से स्वतंत्र है। टेसू खेलने की अवधि अधिकतर नवमी से पूर्णिमा तक है, कहीं-कहीं नवरात्रि में भी खेला जाता है। नौरता की प्रमुख प्रवृत्ति धार्मिक और नैतिक है, जबकि टेसू की विनोदात्मक।इ तना अवश्य हे कि टेसू का विनोद अंचचः नैतिक परिणति में समाप्त होता है। ढिरिया या झिंझिया से उसका विवाह एक मांगलिक अंत का द्योतक है, जो लोककथा के सुखद उपसंहार की तरह भारतीय प्रवृत्ति का आभास देता है और जिससे 'टेसू' एक सुखांतिकी (कॉमेडी) बन जाता है।

मुख्य समस्या है टेसू की पहचान। समाधान की खोज के लिए सबसे पहले उसके लोकरूप को परखना आवश्यक है। टेसू खेलते समय बालक बाँस के एक डंडे के सिरे पर बनी मानवी आकृति हाथ में लेकर द्वार-द्वार घूमते हैं। मैंने उरई में उसे देखा है। वह खड्‌गधारी राजा जैसा बनाया गया था। उसके चेहरे में बुंदेलखंडी ठाकुर की ठसक थी और मूछों की ऐंठ ने उसे एक शूरवीर योद्धा का व्यक्तित्व प्रदान कर दिया था। लकड़ी में टेसू की आकृति का अंकन बालकों को ले जाने की सुविधा देता है। साथ ही काष्ठकला या काष्ठ पर चित्रांकन की कुशलता का साधन भी है। कहीं-कहीं टेसू को तीर-कमान, साफा, राजसी परिधान और आभूषणों से सजा-धजा रियासती सामंत-सा अंकित किया गया है और कहीं मुकुट धारण किये हुए राजा-सा। कुछ स्थानों में बाँस की तीन लकड़ियों के सहारे मिट्‌टी के एक मानवी शीश को रखकर घुमाते हैं। बहरहाल, आकृति से वह एक राजा या वीर योद्धा लगता है।

टेसू गीतों से टेसू का व्यक्तित्व प्रमुखतः दो भागों में बँट जाता है-एक में वह वीर राजा या योद्धा सामंत है और दूसरे में मूर्ख सज्जन। डॉ. सत्या गुप्ता उसे बबरीक का प्रतीक मानती हैं, जो कृष्ण द्वारा छला गया या मूर्ख बनाया गया था। इस तरह गीतों के माध्यम से टेसू वीरता और मूर्खता-दोनों के विलक्षण सामंजस्य का आभास देता है।

आकृति और गीतों, दोनों से टेसू एक ऐसे रियासती राजा का प्रतीक है, जो हास्य-विनोद या परिहास की मूर्ति

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

है, लेकिन मौका आने पर शौर्य का कार्य भी कर देता है। इस अंचल में मामुलिया, नौरता और टेसू को जोड़कर एक प्रबंधकाव्य बन गया है। नौरता के बाद नवमी से कन्याएँ ढिरिया या। झिंझिया खेलती हैं, जिसमें मिट्टी के घड़े को लेकर उसमें कई छेद कर देते हैं और थोड़ा-सा अनाज डालकर उस पर दीपक रख देते हैं। फिर उसे एक बालिका अपने सिर पर रखकर हर घर से वस्तु या पैसे की याचना हेतु आगे-आगे चलती है और बालिकाओं का समूह गीत गाते हुए पीछे। ठीक इसी की प्रतियोगिता में बालक टेसू लेकर माँगने जाते हैं। दोनों दल अपने पैसे इकट्टे कर ढिरिया और टेसू का विवाह रचाते हैं। लोकश्रुति है कि ढिरिया सुअटा नामक राक्षस की पुत्री थी, जिसके सौन्दर्य से आकृष्ट हो टेसू विवाह रचाने के लिए प्रयत्नशील है। राक्षस (पिता) की मृत्यु पर ढिरिया परेशान होकर द्वार-द्वार भटकती फिरती है और अंत में टेसू की उदारता से सुखी (विवाह का आनन्द) हो जाती है। इस सम्पूर्ण खेल में यह बताया गया है कि नारी का अपहरण एक अपराध है, जिसका दंड मृत्यु है और विवाह एक मर्यादित समझौता है, जिसका सुख असीमित है।

उक्त लोकप्रचलित रूप को लेकर टेसू एक वीर और उदार विनोदी ठहरता है। उसके आत्मकथ्य और कथ्य में अद्भुत विलक्षणता के साथ-साथ तीखापन भी है। कभी वह अपने पर हँसता है और कभी दूसरों पर। अकल्पित और असंबद्ध बातों को एक अदृश्य धागे से बाँधकर एक निराली एकता स्थिर करता है। इस दृष्टि से टेसू एक निराले व्यक्तित्व का धनी हो जाता है। शेक्सपियर का फाल्सटाफ एक अतुलनीय साहित्यिक मूर्ख है, पर टेसू उससे भी आगे बढ़कर एक ऐसे लोकमूर्ख की गद्दी पर आसीन हो जाता है, जो लोकहित में ही मूर्खता की सिद्धि देखता हो। टेसू एक कल्पित पात्र है, जो लोकमान्य होकर अपनी विलक्षणता के चित्र से लोकरंजन करने में सक्षम हे। उसकी प्रामाणिक जानकारी कहीं भी उपलब्ध नहीं है, पर प्रसिद्ध भक्तकवि हरिराम व्यास की बानी के एक पद से वह एक ऐसा राजा ठहरता है, जिसका राज्य अस्तित्वहीन हो। कवि की पंक्ति है-'भक्ति बिन टेसू कौ सौ राज। कारागृह दारा हय गय रहत न गाँव समाज।....' सिद्ध है कि १६वीं शती में 'टेसू' का खेल प्रचलित था। इसे उत्तरमध्य युग की रियासती देन नहीं मानना चाहिए।

(घ)लंगुरा या लाँगुरिया-लंगर शब्द से ही लँगुरा, लँगड़ा, लंगुरवा, लाँगुरिया आदि बने हैं और लंगर का अर्थ है ढीठ या धृष्ठ। कुछ विद्वानों के अनुसार उसका अर्थ परायी स्त्री से अनुचित संबंध रखने वाला रसिक पुरुष है। कुछ की धारणा है कि चामुण्डा देवी के अखाड़े का वीर एक पैर से लँगड़ा होने के कारण लंगुरा कहा जाने लगा और फिर लंगुरा कहने की परंपरा चल पड़ी। लंगर जहाज के लिए बड़ा सहारा होता है, अतएव व्यंग्यार्थ के रूप में लंगुरा देवी का सहारा होता है। वह देवी माता का हर काम करता है, हर आज्ञा मानता है और हर जरूरत पूरी करता है। देवी के कहने पर युद्ध भी करता है। देवी का प्रिय सहायक और कृपापात्र है। उसके प्रसन्न होने पर देवी प्रसन्न होती हैं, इसलिए देवी-भक्त पहले लँगुरा की सेवा करते हैं। भक्त स्त्रियाँ उसे वात्सल्य भाव से देखती हैं, परंतु अधिकतर पति-भाव का आरोपम करती हैं। ब्रजी के एक लोकगीत में तो साफ-साफ कह दिया गया है कि 'रस कौ बींध्यौ लाँगुरा, आइ गयौ मेरी सेज।'

बुंदेलखंड के देवी गीतों में लँगुरा देवी के बाग की रखवाली करता है, हिंडोरा झुलाता है, हार के मोती गिरने पर उन्हें बीनता है, भवन में खेल खेलता है, बन से सिंह लाता है और उनके मान-अपमान का पूरा-पूरा ध्यान रखता है। आशय यह है कि वह देवी का सेवक और कृपापात्र है और उसे प्रसन्न करने से देवी प्रसन्न होती हैं। लँगुरा को प्रसन्न करने के लिए इस अंचल की देवीभक्त स्त्रियाँ उसे 'भइया' या 'वीरा' मानती हैं। बुंदेली में वीरा या वीर भाई के लिए प्रिय संबोधन है, जिसका प्रयोग या तो 'सावन'-गीतों में भाई के लिए हुआ है या देवी गीतों में लंगुरा के लिए। अतएव ब्रज की तरह यहाँ लंगुरे के प्रति पति-भाव नहीं मिलता। जिन स्थानों में थोड़ा-

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

बहुत मिलता है, वह ब्रज के प्रभाव के कारण। छतरपुर के घोषयाने मुहल्ले की एक देवीभक्त स्त्री ने बताया कि ठलँगुरा का व्रत और अनुष्ठान कठिन होता है। वह केवल एक-एक लोंग खोंटकर नौ दिन उपवास करता है और दसवें दिन ही अन्नजल ग्रहण करता है। उसके सिरे देवी आती हैं और वह जो कहता है, उसे देवी की वाणी मानी जाती है। जिसका कोठा (भीतर का मन) साफ और पवित्र हो, वही लंगुरा बनने का अधिकारी है।' इस दृष्टि से उसके प्रति पति-भाव की सृष्टि यहाँ संभव ही नहीं है। पुत्र या भाई के रूप में ही उसे लोकमान्यता मिली है।

लँगुरा के प्रति उक्त केन्द्रीय दृष्टि के कारण यहाँ के लाँगुरिया गीत श्रृंगार-प्रधान नहीं हैं। उनमें या तो भक्ति-रस है या वीस्-रस। समुद्र का सोखना और दानो (दानव) का संहार करना दसवीं शती से पन्द्रहवी-सोलहवीं शती तक के देवी गीतों की विषयवस्तु रही है। उस समय बाहर से आया दानो आक्रामक रहा,इ सलिए उससे जूझने के लिए देवी की असुर-संहारक शक्ति की जरूरत थी। ब्रज में पति-भाव के गीतें का प्रचलन रसिक उपासना के उत्कर्ष-काल की देन है। रसिक उपासना का असर इस अंचल पर भी पड़ा और रामकृष्णपरक काव्य में रसिक रचनाएँ काफी मिलती हैं, पर देवीपरक लोककाव्य में उसकी गुंजाइश ही नहीं थी। अतएव श्रृंगारपरक लाँगुरिया गीतों और उनके नायक लँगुरा का प्रचलन यहाँ नहीं हो पाया।

(च) कार्तिक व्रत-इस अंचल के कार्तिक व्रत अपनी अलग पहचान रखते हैं। कार्तिक व्रत के अंतर्गत स्नान, उपवास, पूजन, कथा, पोथी और रहस सब कुछ एक अनुष्ठान है, जो पूरे मास एक निर्धारित दिनचर्या और संकल्पधर्मी प्रवृत्ति से सम्पन्न होता है। कतकारीं (व्रत करने वाली स्त्रियाँ) प्रातः चार बजे उठकर अतकारियों (व्रत न करने वाली स्त्रियाँ) के साथ राधाकृष्ण के भावात्मक लोकगीत गाती हुई नदी-सरोवर के निश्चित घाट पर पहुँचती हैं और स्नान के बाद सूर्य तुलसी, कृष्ण और तपिया को अर्घ्य देती हैं। तपिया बुंदेलखंड के ऐसे अपदेवता हैं, जो ताप में विघ्न करने के कारण पुजने लगे हैं। तपिया को अर्घ्य देने से तप या तपस्या में कोई बाधा नहीं आती। इसी तरह स्नान के पहले जल में अक्षत छोड़ने से जलदेव का पूजन हो जाता है और जल में उतरकर डुबकी लगाने में कोई अड़चन नहीं होती।

स्नान के बाद पवित्र जगह पर रेणुका से उपन्ना (उपरनाउचादर या चादर जैसे वस्त्र) पर राधाकृष्ण और तुलसी का रेखांकन किया जाता है। फिर उन्हें लोकगीत (उठो मोरे हरि जू या किसना भये भुनसारे...) गाकर जगाती हैं, दिनचर्या कराती हैं और फिर उनका पूजन करती हैं। उसके बाद एक राधाकृष्ण, एक तुलसी और एक बार (रविवार, सोमवार आदि) की लोककथा कहकर उन्हें झुलाती हैं और सरोवर या नदी में विसर्जन कर देती हैं। अंत में पण्डित पोथी बाँचता है। यह क्रम पूरे माह चलता है।

पूर्णिमा को कातिक पुजता है, जिसमें कनक (आटा) और बेसन का घर बनकर जाता है और जिसकी किवड़ियाँ कतकारी के भाई खोलते हैं। राधाकृष्ण की पूजा का सामान मुकुट, कुण्डल आदि भी बनता है। पूजा से व्रत की समाप्ति हो जाती है। उस दिन सगे-संबधियों के भोजन भी होते हैं। इस तरह कार्तिक का हर दिन लोकोत्सव होता है। कतकारियों के कई दल होते हैं और हर दल में पच्चीस-तीस स्त्रियाँ होती ही हैं। उनका साथ-साथ जाना, सामूहिक रूप में गीत गाना, पूजा करना, कहानी कहना या सुनना आदि सब मिलकर लोकोत्सव की पूरी गरिमा पा लेते हैं। इतना ही नहीं, करकारीं दिन में ही राधाकृष्ण की लीलाएँ खेलती हैं। रहसधारी रहस करते हैं। इस प्रकार हर दिन राधाकृष्ण के प्रम में डूबता-उतराता है। कतकारीं ग्वालबालों के द्वारा छेंकी जाती हैं। उस अवसर पर गोपियों (कतकारियों) और गोपों के संवाद बहुत सटीक और नाटकीय होते हैं। कुल मिलाकर यह प्रेम और भक्ति का जीता-जागता स्वरूप ग्रहण कर लेता

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

है। कभी संयोग और कभी वियोग की लीलाओं से सुख-दुःखमय जीवन का प्रतीरूप। राधाकृष्ण की रसिक साधना में लीन भक्तिनें अंततः परिवार कीर मर्यादा के प्रतीक घर का निर्माण करती हैं। वे यह व्रत परिवार की सुख-समृद्धि, संतान के मंगल और सबके मोक्ष के लिए करती हैं, किन्तु उसके साथ-साथ आदर्श घर-गृहस्थी के लिए भी याचना करती हैं-

राजा जनक से बाबुल दइयो, रानी सुनैना-सी माता दइयो,
राजा दसरथ से ससुरा दइयो, रानी कोंसिल्या सी सासो दइयो।...

इन अनुष्ठान की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट हो चुकी हैं। उनके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राधाकृष्ण के साथ तुलसी की पूजा से कतकारियाँ (गोपियाँ) परकीया होती हुई भी स्वकीया (तुलसी की प्रतीक) रहती हैं। दूसरी विशेषता यह है कि इस व्रत में जहाँ लोकधर्म और लोककथा एवं नाट्य को महत्त्व मिला है, वहाँ पण्डित द्वारा पूजन और पोथीवाचन से धर्म और कथा के शास्त्रीय रूप को भी स्वीकृति दी गयी है। वस्तुतः लोक ने पण्डितों की मोहर लगवाने के लिए यह सब किया है, वरना कातिक का यह अनुष्ठान लोक का ही है। लोककला, लोकसाहित्य और लोकधर्म का समन्वय, जो लोकोत्सवी चेतना का केन्द्रबिन्दु है।

(छ) बुड़की (मकरसंक्रांति)-मकर राशि में सूर्य के संक्रमित करने पर मकरसंक्रांति होती है। इस अंचल में स्नानपर्व होने के कारण उसे बुड़की (डुबकी) कहते हैं। वह कभी पूस और कभी माघ के महीने में पड़ती है। अंग्रेजी कलेण्डर से १४, जनवरी के लगभग यह पर्व होता है।

इस अंचल में बुड़की का इतना उत्साह होता है कि कोई भी व्यक्ति घर में स्नान नहीं करता । गाँव के स्त्री-पुरुष परबी का समय (स्नान का समय) जानकर झुण्ड के झुण्ड घरों से चल पड़ते हैं। लमटेरा या रमटेरा लोकगीत गाते हुए। पास का नदी या सरोवर में बुड़की लगाकर सूर्य को अर्घ्य देते हैं और देवता के दर्शन कर खिचड़ी (चावल-दाल का मिश्रण) का दान अर्पण करते हैं। तिलों को बाँटकर उनकी लुगदी से उबटन करना, तिलों का दान और तिलों के लड्डू खाना शुभ माना जाता है। इस पर्व में नाना प्रकार के पकवान् भी बनते हैं। लड्डुआ, सेव-खुरमा, गुझिया, खुरमी आदि काफी मात्रा में तैयार किये जाते हैं। जगह-जगह बुड़की के मेले लगते हैं, जहाँ हर प्रकार की जरूरत की वस्तु विक्रय के लिए आती है।

दूसरे दिन भरभराँत होती है। रात्रि में घोड़ों और गढ़ियों पर कपड़े की कठारियों में पकवान् और खाँड़ के गढ़िया-धुल्ले भरे जाते हैं। परिवार में जितने लड़के होते हैं, उतने घोड़े और जितनी लड़कियाँ होती हैं, उतनी गढ़ियाँ चौक पूर कर रखी जाती हैं। लड़के एक-एक घोड़े की लगाम पकड़कर कुछ दूर तक खींचते हैं। बहनें पूछती हैं-'जो टाँड़ो काँसें आओ उर काँ जा रओ ? ' भाई उत्तर में कहता है-'महोबे सें आओ उत चंदेरी जा रओ।?' बहनें डाँड़ (कर) माँगती हैं, तब भाई रुपये देते हैं। बहनें भाइयों को कलेउ देती हैं, जो बंजी या व्यापार के लिए जाते हुए मार्ग में काम आता है। यह सब व्यापार के लिए उपयुक्त समय निर्धारण करने का प्रतीक है।

बुड़की लगाने से पुण्य होता है। लोकप्रचलित है कि एक बुड़की हमारे नाम की भी लगा लेना। बुड़की लगाने से अच्छी लुगाई (पत्नी) मिलती है। यदि बुड़की न लगाई, तो लंका का गधा बनेगा। बुड़की किस वाहन पर सवार होकर

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/

आई है, किस रंग का वस्त्र पहने है, किस दिशा से आई है और किस दिशा को देख रही है आदि से शुभ और अशुभ का संकेत मिल जाता है। इस प्रकार के लोकविश्वास बुड़की से जुड़कर लोकसंस्कृति के अंग बन गये हैं।

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

DOWNLOADED FROM : http://bundelkhand.in/